

सिद्धान्तमुक्तावली।



॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

ग्रन्थ-परिचय

कहा जाता है कि सिद्धान्तमुक्तावली श्रीमहाप्रभुने अच्युतदास सनोढियाके लिए लिखी थी. एक किन्वदन्तीके* अनुसार यह रचना वि. सं। १५५५ में जतिपुरा में की गई।

बालबोधवाले नारायणदास और इन अच्युतदास के चरित्रमें कई बातोंमें समानता भी है और उल्लेखनीय अन्तर भी. नारायणदासको श्रीमहाप्रभुने स्वरूपसेवा पधारानेसे इन्कार कर दिया था, जबकि अच्युतदासको श्रीगोवर्धनधरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे. नारायणदासके व्यावृत्तिमय जीवनके कारण उनसे स्वरूपसेवाका निर्वाह सम्भव न था, जबकि अच्युतदासके चरित्रके अवलोकनसे उनकी रुझान सर्वथा अव्यावृत्त जीवन-यापनकी प्रतीत होती है। अतः तनुवित्तजा-सेवा अथवा गृहसेवा के प्रकारके निर्वाहका तो प्रश्न ही नहीं उठता. सो श्रीगोवर्धनधरकी केवल तनुजासेवा करनेके बजाय इन्होंने सीधे ही श्रीमहाप्रभुसे मानसी सेवाका वरदान ही मांग लिया नारायणदासको जैसे स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाद्वारा उत्कट भावका दान मिला, वैसे ही अच्युतदासको प्रथम तनुवित्तजा-सेवा और तब मानसी सेवा के सिद्धान्तसम्मत क्रमके बिना सीधे ही फलरूपा मानसी सेवाका दान श्रीमहाप्रभुने कर दिया

सिद्धान्तमुक्तावली तथा सम्बद्ध वार्ता के अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि जैसे विराटरूपके साक्षात्कारके समय श्रीकृष्ण और अर्जुन में कुछ एक मीठा विवाद हो गया था, वैसे ही विवाद श्रीमहाप्रभु और अच्युतदास में भी हुआ होना चाहिए. श्रीकृष्ण अपने विराटरूपकी महत्ता और देवदुर्लभता समझा रहे थे पर अर्जुनका कहना था कि जो भी हो उसे इस स्वरूपके नहीं किन्तु सौम्य मानुष स्वरूपके ही दर्शन सुहाते हैं। वैसे ही अच्युतदासको भी नामनिवेदन

* वैष्णववाणी (अङ्क ४ वर्ष १९७९) में श्रीनागरदास बाम्भणिया शास्त्री द्वारा लिखित लेख.

करानेके बाद श्रीमहाप्रभु श्रीगोवर्धनधरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे-“तुम गोवर्धनधरकी सेवा करो” तब अच्युतदास श्रीआचार्यजीको दण्डवत करि विनती किये-“महाराज मोपर ऐसी कृपा करो जो एकान्तमें बैठिके मानसी सेवामें मन लागे?” तब श्रीआचार्यजी अपने चरणामृत दिये. सो अच्युतदास पान करि, हाथ नेत्रनसों लगाय, मस्तकपर लगाय हृदयसों लगायो. तब अच्युतदासके नेत्र अलौकिक हो गये. लीलाको दर्शन करन लागे.।.”

वैसे तो “प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाभ्यभिप्रायसंशयान्। सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वमार्थमेवच” (भक्तिवर्धिनी) का सिद्धान्त सभी शरणागत जीवोंपर लागू होता ही है। फिरभी स्नेहके आवेशमें भक्त कभी-कभी कुछ न कुछ मांग ही लेते हैं। भगवान्को भी वह कृपासे आवेशमें देना ही पहता है। क्योंकि “अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः” (सिद्धान्तमुक्तावली) में निरूपित अनुग्रहशीलता अथवा भक्तपरवशता का रहस्य कुछ भक्तोंके हाथ लग जाता है जो इस तरह प्रभुके स्वभावका लाभ ले लेते हैं, उन अग्रगण्य भक्तोंमें अच्युतदास भी एक है।

“तब श्रीआचार्यजीने सिद्धान्तमुक्तावली करि पढायी. ता करि मानसीमें मन भये सो गोविन्दकुण्डके पास गुफामें रहते. नेत्र प्रेमरसगों भरे रहते. सो श्रीगुंसाईजी नित्य दर्शन देवे पधारते उपर यह भाव मर्यादा राखन अर्थ परन्तु श्रीगुंसाईजी दर्शन करवे आवते. सो याते श्रीगुंसाईजीकों श्रीआचार्यजीको अनुभव होतो. अच्युतदासके नेत्रनमें श्रीमहाप्रभुजी झलकते” (भावप्रकाश)। वस्तुतः पुष्टिमार्गमें अनुग्रह ही नियामक है, भक्तका भी और भगवान्का भी भक्तिकी साधनामें भी और भक्तिके फलदानमें भी

अच्युतदासने छीन-झपटकर अपवादरूपसे जो अधिकार प्राप्त कर लिया था उसका कोई गलत अर्थ न लगा ले, अतएव श्रीमहाप्रभु अपनी सैद्धान्तिक स्थिति इस ग्रन्थमें स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं।

कृष्णसेवा हम पुष्टिमार्गीय जीवोंका सनातन कर्तव्य है। जब यह कृष्णसेवा मानसीरूपमें फलित हो जाती है तो वह सेवाकी उत्कृष्टतम अवस्था है। क्योंकि चित्तका भगवान् श्रीकृष्णके साथ तन्मय हो जाना ही सेवा है। चित्तको श्रीकृष्णके



साथ तन्मय करनेके लिए स्वयम् अपने तन तथा धन को कृष्णसेवामें लगाना चाहिए. रही बात सांसारिक दुःखोंके दूर होनेकी या अलौकिक ब्रह्मानन्दके प्राप्तिकी तो वह तो इस कृष्णसेवामें मिलते भजनानन्दका एक आनुषङ्गिक लाभ है ही. क्योंकि ब्रह्मानन्दमें अनुभूत होता अक्षरब्रह्म गणितानन्द है जबकि भजनानन्द तो परब्रह्म अगणित-सच्चिदानन्द श्रीकृष्णकी सेवाद्वारा ही मिल सकता है।

यह अक्षरब्रह्म समग्र जागतिक रूपोंका उपादान होनेके कारण सर्वरूप भी है तथा सर्वविलक्षण भी. जगतके कारणके स्वरूपके बारेमें अनेक प्रकारके विवाद दिखलाई देते हैं। उदाहरणतया विवर्तवादी लोग इस जगतको मायिक मानते हैं। प्रकृतिपरिणामवादी इसे प्रकृतिके सत्त्व-रज-तमो गुणोंका परिणाम मानते हैं। आरम्भवादी सूक्ष्म परमाणुओंसे निर्मित मानते हैं। मीमांसकोंके अनुसार जगत जैसा आज दिखलाई देता है वैसा ही सर्वदा था और रहेगा. अतः इसके कर्ताके रूपमें परमात्माको वे मान्य नहीं करते. श्रौत मतके अनुसार, किन्तु, माया प्रकृति परमाणु अदृष्टकर्म वासना या स्वभाव आदि सभी रूपोंमें अक्षरब्रह्म ही जगत्का एकमात्र कारण बनता है। अक्षरब्रह्म अतएव सर्वरूप होनेपर भी सर्वविलक्षण है।

जगत और अक्षरब्रह्म के परस्पर स्वरूपोंको आधिभौतिक गङ्गाजल, जो ग्रीष्म या वर्षा में घटता या बढ़ता है, और आध्यात्मिक तीर्थरूपा गङ्गा, जिसका ग्रीष्म या वर्षा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, के समान समझना चाहिए. आधिभौतिक रूपमें गङ्गा केवल एक नदी है पर आध्यात्मिक रूपमें मर्यादामार्गीय विधिके अनुसार तीर्थरूपा गङ्गाके तटपर तीर्थवास करनेवालेको मनोवांछित फल देनेवाली मानी गयी है। इसी तरह जगतके सभी नाम-रूप अक्षरब्रह्मके आधिभौतिक रूप हैं पर इनसे विलक्षण भी अक्षरब्रह्मका एक आध्यात्मिक रूप है, जो मर्यादामार्गीय ज्ञानियोंके लिए उपास्य तथा मोक्षप्रापक रूप है।

गङ्गाके इन दो आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रूपोंके अलावा एक तीसरा आधिदैविक रूप भी कभी-कभी भक्तोंको उनकी भक्तिके आवेशमें अनुभूत होता है-एक मूर्तिमती देवीके रूपमें। इस आधिदैविक रूपका प्रत्यक्ष सभीको नहीं होता. यह तो उन्हींको दिखलाई देता है जिन्हें गङ्गाके आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सभी रूपोंमें तीव्र भक्तिके कारण अभेदबुद्धि घटित हो जाती है। यह

घटित होनेपर आधिभौतिक रूपमें भी सर्वत्र आधिदैविक रूपका सा व्यवहार सम्भव हो जाता है।

गङ्गाके आधिभौतिक रूप जलकी तरह यह सारा जगत है। गङ्गाके आध्यात्मिक तीर्थरूपकी तरह अक्षरब्रह्मको समझना चाहिए. गङ्गाके आधिदैविक रूप मूर्तिमती देवीकी तरह श्रीकृष्णको समझना चाहिए.

जगत जैसे त्रिविध सत्त्व-रजस्-तमोगुणात्मक है, वैसे उसके नियामक देवता भी त्रिविध विष्णु-ब्रह्मा-शिव माने जाते हैं। इसी तरह अक्षरब्रह्म क्योंकि एकविध है अतः उसके नियामक-अधिदेव भी परब्रह्म श्रीहरि एक ही हैं। अतः अक्षरब्रह्ममें अवस्थित ब्रह्मादि सकल देवताओंके नियामक भी श्रीहरि ही हैं। श्रीहरि द्वारा अधिकृत होनेके कारण ही ये देवता भी मनोवांछित फलदान करनेमें समर्थ बनते हैं। जहांतक पुष्टिभक्तोंका प्रश्न है तो उनके तो सभी मनोवांछित ऐहिक या पारलौकिक फल परमानन्दरूप श्रीकृष्णसे ही निश्चिततया परिपूर्ण हो जाते हैं।

अतः ब्रह्मवादको अच्छी तरह समझकर केवल कृष्णमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए.

ब्रह्मवादके अनुसार सभी जीवात्मा अक्षरब्रह्मकी अंश है अतएव ब्रह्मात्मक है। पर अविद्याजन्य अहन्ता-ममताबुद्धिके कारण स्वयम्की ब्रह्मात्मकताका हमें बोध नहीं हो पाता है। जैसे आकाशको एक चलनीमें से देखा जाय तो चलनीके छिद्र आकाशके अनेक छिद्रोंकी तरह प्रतीत होंगे। ऐसी ही अहन्ताममताकी चलनीमें से अनुभूत होनेके कारण अखण्ड अक्षरचैतन्य भी हमें खण्डशः व्यक्तिचेतनाके रूपमें भिन्न-भिन्न अनुभूत होता है।

व्यक्तिचेतनाकी ब्रह्मात्मकताका बोध केवल अहन्ता-ममताकी उपाधिके दूर होने मात्रसे नहि हो जाता, अपितु परब्रह्मके धामरूप व्यापक अद्वैत अखण्ड अक्षरब्रह्मके ज्ञान होनेपर ही वह सम्भव है। अपनी अक्षरब्रह्मात्मकताके बोध होनेपर अक्षरब्रह्ममें विराजमान परब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्णके दर्शन सम्भव हो जाते हैं। जैसे गङ्गातीरपर तीर्थवास करनेवाला भक्त अपनी तीव्र भक्तिके कारण आधिदैविक



स्वरूप मूर्तिमती गङ्गाके दर्शन पा लेता है, वैसे ही आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें निवास करनेवाला भक्त उसके आधिदैविक स्वरूप श्रीकृष्णके दर्शन पा लेता है।

माहात्म्यज्ञानके बिना सांसारिक वृत्तिसे जो कृष्णभजनमें प्रवृत्त होते हैं उनकी भगवान्के साथ दूरी मिटती नहीं है। जैसे कोई गङ्गाका भक्त गङ्गातटसे दूर रहनेके कारण-गङ्गाजलके स्नान-आचमन-अर्चनसे वंचित रहनेके कारण दुःखीरहता है, वैसे ही माहात्म्यज्ञान (और/ अथवा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह) के अभावमें कृष्णभजनमें प्रवृत्त होनेपर कुछ न कुछ क्लेश नहीं जाता। अतः जन्मान्तरमें भी कभी न कभी माहात्म्यज्ञान और/ अथवा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह प्रकट होगा औरजीवात्मा तथा परमात्मा कृष्ण के बीचकी दूरी कम होगी ही यह निश्चित है।

अतः जगतकी सारी झंझटोंको छोड़कर पुष्टिके प्रशस्त पथपर चलते हुए पुष्टिजीवको श्रीकृष्णका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए। श्रीकृष्णने अपने आधिदैविक रसात्मक आनन्दमय स्वरूपसे सभी ब्रजभक्तोंमें परमानन्दका सागर प्रकट किया है और अपने उस आत्मीय आनन्दके सागरमें श्रीकृष्ण सनातन लीलाविहार करते हैं। ऐसे ब्रजभक्तोंमें लीलाविहार करनेवाले श्रीकृष्णके स्वरूपका ही हमें सर्वदा चिन्तन करना चाहिए।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके दो अवान्तर भेद शुद्धपुष्टि और मिश्रपुष्टिके दिखलाये गये हैं। तदनुसार मिश्रपुष्टिवाले जीवोंमें प्रवाही जीव कभी-कभी किसी लौकिक प्रयोजनके वशीभूत होकर भी कृष्णभजनमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे प्रवाहपुष्टिवाले जीवोंके लिए कृष्णभजन सर्वथा क्लिष्ट हो जाता है। फिर भी जो सारे क्लेशोंको झेलते हुए कृष्णभजनमें लगे ही रहते हैं उसे अधबीचमें छोड़ नहीं देते-उनके सारे लौकिक आवेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

स्वयम् अपने आत्मस्वरूपके तथा अपने भजनीय परमात्माके भी समुचित शास्त्रीय ज्ञानके बिना भजनमें प्रवृत्त हो जानेवाले भक्त पुष्टिजीव भी हो सकते हैं और मर्यादाजीव भी। कभी-कभी मर्यादामिश्रित पुष्टिके जीवको भी “मर्यादाभक्त” कहा जाता है। वैसे सामान्यतः ‘मर्यादाभक्त’ का अर्थ केवल मर्यादामार्गीय भक्तिमान् जीव ही होता है।

मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्त प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिरहित शास्त्रीय ज्ञानवान् भी हो सकता है तथा शास्त्रीय माहात्म्यज्ञानके अभावमें भी भक्तिमान् हो सकता है।

ज्ञानरहित मर्यादापुष्टिभक्तको अपने चित्तको भगवानमें लगायें रखनेके लिए भगवान्की पूजा-उत्सवादिकी प्रक्रियामें तत्पर रहना चाहिए। भक्तिरहित ज्ञानवान् मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्तको दास्यभावप्रदायिनी गङ्गाके तटपर स्नेहोत्पत्यर्थ श्रीभागवतके अनुशीलनमें तत्पर होना चाहिए। इन दोनों प्रकारके मिश्रपुष्टिवाले भक्तोंको जब भगवान्के विशेष अनुग्रहका प्रकाश मिलता है तब वे पुष्टिमार्गको खोज पाते हैं तथा पूर्वोक्त तनुवित्तजा सेवाके क्रमसे अन्तमें उन्हें मानसी सेवा फलित हो जाती है।

जो केवल मर्यादामार्गीय जीव होते हैं वे भी भक्तिरहित ज्ञानवान् अथवा ज्ञानरहित भक्तिमान् हो सकते हैं इन दोनों प्रकारके जीवोंको सायुज्य मिलता है। पर अन्तर यह है कि भक्तिरहित ज्ञानवान् जीव ज्ञानमार्गीय प्रक्रियासे आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें सायुज्य-लय प्राप्त करता है, जबकि मर्यादाभक्त दास्यभावप्रदायिनी गङ्गाके प्रसादसे आधिदैविक स्वरूपमें मर्यादाभक्तिमार्गीय सायुज्य प्राप्त करता है।

मर्यादामार्गीय साधककी साधनामें देश-काल आदिके नियम हैं, परन्तु पुष्टिभक्ति तो देशकालके बन्धनमें नहीं है। पुष्टिमार्गमें तो भगवान्का अनुग्रह ही केवल एकमात्र नियम या बन्धनमें नहीं है। अतः जिस देशमें या जिस कालमें भगवान्का अनुग्रह मिल जाय सर्वत्र एवम् सर्वदा पुष्टिभक्ति सम्भव है।

हर सूरतमें यों अक्षरब्रह्ममें सायुज्यका दान करनेवाले ज्ञानमार्गीय तुलनामें भक्तिमार्गका उत्कर्ष दिखलाई देता है। अतः भक्तिके बिना सब कुछ व्यर्थप्राय है। गङ्गातटपर तीर्थवास करनेवाला भी आधिदैविक गङ्गाके बारेमें यदि भक्तिरहित होता है तो कभी न कभी गङ्गाके आध्यात्मिक माहात्म्यको भूल कर अथवा उसे केवल आधिभौतिक जल ही समझ कर अपने दुष्ट कर्मोंके कारण अन्तमें उसके आध्यात्मिक लाभसे भी वञ्चित रह जाता है। इसी तरह आधिदैविक कृष्णके

स्वरूपमें सर्वथा भक्तिके अभावमें, आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरब्रह्ममें ज्ञानबलसे निवास करनेवाला विमुक्तिमानी साधक भी अरविन्दाक्ष श्रीकृष्णमें भावशून्य होनेके कारण अक्षरमे सायुज्यके लाभसे भी वञ्चित होकर पुनः भवप्रवाहमें अधःपतित हो जाता है।

यह श्रीभागवतशास्त्रका गुप्त रहस्य श्रीमहाप्रभुने न केवल अच्युतदास के लिए प्रकट किया है, अपितु सभी पुष्टिजीवोंको-श्रीमहाप्रभुके स्वकीयोंको उनके कर्तव्यके उपदेशके रूपमें दिखला दिया है। इसे अच्छी तरहसे एकबार समझ लेनेपर सभी पुष्टिजीव अपने कर्तव्य-सम्बन्धी सभी प्रकारके संशयोंस मुक्त हो सकते हैं।

प्रस्तुत सिद्धान्तमुक्तवलीका संस्करण वि. सं। १९७९ में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है उस प्रथम संस्करणके सम्पादक थे पुष्टिमार्गीय साहित्यसेवाके द्वितीय श्रीपुरुषोत्तमजी श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधरैलाल ब्रजदास साङ्कलिया. प्रकाशनभार भगवद्धर्मपरायण श्रीरामदास रणछोडदास ठाकरसीने वहन किया था. इन सभी महानुभावोंके प्रति इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं। इतिशम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तमुक्तावली।

श्रीमद्गुल्लभाचार्यप्रकटिता।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥
परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥
अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥५॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥
तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्ये॥७॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्त्या तथा बृहत्।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते॥९॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥१०॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन्ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः॥११॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।
आत्मानि ब्रह्मरूपे हिं छिद्रो व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।
 गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति॥१३॥
 तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन्ज्ञानी प्रवश्यति।
 संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा-तथा॥१४॥
 अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।
 तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥
 आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।
 लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥
 क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।
 ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥
 मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।
 अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥
 उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।
 ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥
 भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।
 अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥
 एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।
 एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीमद्रुल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली समाप्ता।

श्रीकृष्णाय नमः। सिद्धान्तमुक्तावली। श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृत्तिसमेता।

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः।
 कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम्॥१॥
 नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्॥
 कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥

स्वसिद्धान्तेति. अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे
 तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थं निश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः। तमेवाहुः कृष्णसेवेति.
 फलात्मकनामोक्ता स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति
 ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः। तदुक्तया जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्।
 अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः^१ सदेति.
 आवश्यकार्थप्राप्त्यान्तकार्यपदोक्तया तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो
 ज्ञाप्यते. सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः।
 यथा ब्रजसीमन्तिनीनाम्। तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं “ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः
 स्वमात्मानमदस्तथेदं” मित्यादिना॥१॥

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

यद्वाञ्छयैव मोक्षान्ताः पुमर्था अधरीकृताः।
 स कोऽपि पितृपादाब्जरेणुर्मह्यं प्रसीदतु॥१॥

अग्रे वक्ष्यमाणैरिति. मायिकं सगुणमित्यादिभिरित्यर्थः। तत्र परस्परविरोधस्य
 स्पष्टत्वात्। साक्षाच्छ्रुतिनिरूपितं वक्ष्यामीति विशब्दार्थः। तस्यैव
 स्वकीयत्वज्ञापनाय स्वपदम्। अशेषाणामिति. आसुरव्यति
 रिक्तानामशेषाणामित्यर्थः। अत एव भगवता गीतं “आसुरी योनिमापन्ना मूढा
 जन्मनि-जन्मनि. मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिं”मिति. न हि दासः
 कदापि प्रभुं न प्राप्नोतीति तथार्थ उक्तः। ननु मानससेवायाः सर्वात्मपरत्वे को
 हेतुरिति चेत्तत्राहुः फलरूपेति. फलरूपत्वमेव विवृतं यथा ब्रजसी मन्तिनीनामिति.
 एतत्प्रकारातिरिक्तप्रकारकमानससेवायाः फलरूपत्वाभावात् तत्परत्व मुक्तमिति
 भावः। सर्वात्मभावस्य मनोधर्मत्वात्तत्पूर्विकायास्तस्या मानसीत्वमुक्तमिति न
 काचित्क्षतिः॥१॥

१.विनिश्चितमिति पाठः। २.काले इति पाठः

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति.

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका. एतादृशेन पुंसा कृता चापरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्। एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः। एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्। भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः॥२॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति.

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

द्विरूपं तद्वि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति. एते हि भगवद्भूमात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकक्षरं ब्रह्म. अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते. एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौः जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति. कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते. कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति. तत् अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति. प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः। एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

नन्वेवमाधुनिकैः स्तादृशाधिकाररहितैस्तन्मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण क्रियमाणसेवाया अनुपयोगमाशङ्क्याहुः उक्तसेवासाधने इति. तेषां तादृशाधिकाराभावेपि तदुक्तप्रकारेण क्रियमाणत्वात्पूर्वोक्तमेव फलं सम्भवतीत्यर्थः। यथा चैतत्तथा भक्तिहंसे विस्तृतं पितृचरणैरिति नात्र विस्तरः॥२॥

सच्चिदानन्दकमित्यस्यापि पुरुषोत्तमपरत्वव्यावृत्त्यर्थमाहुः कप्रत्ययेनेति. कुत्सार्थे कप्रत्ययः। हीनता, तेनागणितानन्दात् गणितः एव स हीन एवेति स्पष्टमेवाक्षरपरत्वमिति भावः। पूर्वपदे परब्रह्मपदप्रयोगादत्र बृहत्पदप्रयोगादप्यस्य पदस्याक्षरपरत्वमिति ज्ञायते, अन्यथा परब्रह्मबृहत्पदाभ्यां पौनरुक्त्यं स्यात्, पूर्वपदे परपदं च न स्यादित्यर्थः।

पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः। न च विरुद्धधर्मैर्भेदोऽत्र शङ्कनीयः।

उभयोधर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्। विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि “तदेजति तन्नैजती” त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात्। लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि. इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्चयते॥३॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति.

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।

मायिकं सुगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते. तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः। मायिकमिति हि मायावादिनः। सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः। कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः। स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः। चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते॥४॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति.

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्:

द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥५॥

माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥

“स हैतावानास”, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला” नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः। एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति. प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम्। अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम्। आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यदृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिहासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च. अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा. एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः॥५-६॥

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

विरुद्धधर्मैरिति. प्रपञ्चरूपत्वात्प्रपञ्चत्वरूपैरित्यर्थः। दृश्यत्वा व्यवहार्यत्वाद्यैरित्यर्थः। विरोधाभावादिति ननु विरोधस्य परिदृश्यमानत्वात्कथं तदभाव इति चेत्। न. श्रुत्यैक गम्यत्वादब्रह्मस्वरूपस्य. तत्र च तथैव प्रतिपादितत्वात्तादृशमेव तदिति मन्तव्यम्। अन्यथा श्रुतेरप्रामाणिकत्वापत्तेरिति भावः॥३॥

स्वमतनिरूपणेनैवेति. श्रुतिनिरूपितत्वात्स्वमतस्येत्यर्थः। एतदेवोक्तं “स हैतावा” नित्यादिभिः। पूर्वमक्षरात्मकस्यैव गङ्गादृष्टान्तेन द्विरूपत्वमुपपाद्य तस्याप्यधिष्ठाता पुरुषो तम एवेति ज्ञापनायाहुः अस्तीति. त्रिरूपत्वमेव विवृण्वन्ति आधिभौतिकमित्यादि.

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति.

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्यै॥७॥

प्रत्यक्षा सा व सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।

विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥

यता जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।

यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते॥९॥

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा।

परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः॥११॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः। तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति. भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः। तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव. अथवा. यत्र क्वचिद्ब्रह्मादिष्वपीत्यर्थः। भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति. देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवद्भेदबुद्ध्यै तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति. स्वामीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानातज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः। एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः। विहितेति. भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते. तद्बुद्धीत्यर्थः। यद्वा. येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तथा देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

आध्यात्मिक्यास्तीर्थरूपत्वे प्रमाणमाहुः योद्धृतजलेति. अस्यायमाशयः। यथा प्रवाहोद्धृतजले गङ्गाजलत्वाविशेषज्ञानेपि तत्कृतस्नानादेर्न तदुक्तफलकत्वम्, एवमक्षराभिन्नत्वेन ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य ध्यानादिना न मोक्षादिसिद्धिरित्यर्थः। तत्र हेतुः पुरुषोत्तमेच्छयैवेत्याहुः मर्यादामार्गसम्बन्धीति. भक्त्यैवेति. यथा गङ्गाधिदैविकरूपं भक्त्यैकदृश्यमेव तथा पुरुषोत्तमस्वरूपमपीति भावः। भक्तविशेष इति. मर्यादामार्गीयभक्तविशेष इत्यर्थः। तस्यैव भाव उक्तः देवतारूपायां गङ्गायामिति. भगवद्भेदबुद्ध्यै भक्तायेति शेषः। यथा जलमिति. जलं दृश्यमानप्रवाहरूपम्, शक्ता पापादिनिवारणे शक्तिरस्यास्तीति शक्ता तीर्थरूपेत्यर्थः। बृहदक्षरम्। देवी आधिदैविकीत्यर्थः। कृष्ण पुरुषोत्तम इत्यर्थः। तत्रापि जगद्रूपे एतदग्रे वक्ष्यमाणमित्यर्थः। तदेवाहुर्जगत्त्विति. तत इत्येतस्यैवार्थ उक्तो

१.तथा. देवतारूपा सेति पाठः । १.कामनेति पाठः ।

तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः। किञ्च. पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः। एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अत एव “मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन”मिति भगवतोक्तम्। एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना. तत्रापीति. साधर्म्येपि. एतदिति. किञ्चित्प्रारतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते. जगत्त्विति. त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, तेन तत्तदुपनिषादकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः। ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव. ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः। अथवा. भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः।

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति.

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।

गङ्गातीरस्थितो यद्ब्रह्मदेवतां तत्र पश्यति॥१३॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा-तथा॥१४॥

अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।

लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥

क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः। जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्ययान्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारमापद्यन्ते. इदमेवोपाधिर्मुक्तत्वं तस्याः, न

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

भगवतैव कृता इति. तन्मुक्तिप्रकारं जीवमुक्तिप्रकारमित्यर्थः। न तु तत्कृतं जीवत्वमिति. यथा मायावादिनामित्यर्थः। व्योम्नि यथेति. यथोपाधिभिः क्षुद्रैश्छिद्रैरल्पत्वादय एव

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति. तत्राप्येतदिहोच्यत इति. तत्रापि साधर्म्येपि. एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्प्रारतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्तगङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः। जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये. क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति.

तु तत्कृतं जीवत्वम्। अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः। व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते। न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च। तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिदधीर्भुवति, तत्प्रकारकर्तृपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधैर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकाशेण पश्यतीत्यर्थः। तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते। भजनोपयोग्यार्थपेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति। एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः। यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरुपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्यापुरुषोत्तमाविर्भाववान्, स तु गङ्गातो दुरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यार्थपेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभागभवतीत्यर्थः। तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः। अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलपश्यतीति ज्ञेयम्। आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति। श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यान नन्देषु विहरन्तमित्यर्थः। ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्वत् एव। अत आत्मपदं भगवत्परम्॥१३-१४-१५-१६॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः। उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति। तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा। तस्य विधिर्न नियामक

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

प्रतीयन्ते, न तु व्यापकत्वादयः तथा जीवेष्वपि न व्यापकत्वानन्दांशप्राकट्यादय इत्यर्थः। उक्तरूपाणामपि जीवानां भगवान्मर्यादापुष्टिभेदाङ्गीकारेणैव फलं ददाति, नत्वेकेनैव प्रकारेणेति ज्ञापनायाहुः तेषां मध्य इति। तेषां मध्य इत्यारभ्य ज्ञेयमित्यन्तेन ग्रन्थेनोक्ता व्यवस्था केवलमर्यादामार्गीयमर्यादापुष्टिमार्गीयभक्तानामिति ज्ञेयम्। तत्र ब्रह्मावबोधनरूपविज्ञानस्यापेक्षितत्वात्। पुष्टिपुष्टिमार्गे तु नैतदपेक्षेपि न तत्सङ्ग्रहः। पुष्टिभेदेनेत्यत्रापि मर्यादापुष्टिरेवेत्यर्थः। केवलपुष्टस्य भगवत्स्वरूपाज्ञानाभावेन चित्तचाञ्चल्याभावादित्यर्थः। पुष्टिमार्गीय इति। केवलमर्यादामार्गीयत्वाद्विशेष इत्यर्थः। तमेवाहुस्तस्य स्थिताविति।

इति भावः। मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति। यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः। एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानाधिक इति। लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं तस्य मुक्तिरेवेपि सर्वे वदन्ति। तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्। ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च। एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये। गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति। तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्। न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति। अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति “यो मामेवमसम्मूढ” इत्युपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेने”ति प्रभुरुक्तवान्। अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमिदोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम्। ऋग्वेदेपि पठ्यते “तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे”। हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः। ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्। स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा। जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णं, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तनं पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत। अत्र यथावित्कोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति। तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते। भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः

श्रीमद्रोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

उभयोरित्यस्याभास मर्यादास्थावपीति। अयमाशयः। यदि मर्यादापुष्टिमार्गीययोरप्येकमेव फलं स्यात्, तदा मार्गभेदेनाङ्गीकारोनुपपन्नः स्यात्, मूले च साधारण्येनोभयोरपि फलैक्यप्रतिपादिनाद्भवति सन्देहः, तस्मादुक्तं यद्युभावपि अनुगृह्णाति, तदोभयोरपि मर्यादांशं त्याजयित्वा केवलपुष्टिमार्गे प्रवेशं कारयित्वा पूर्वोक्तं सेवारूपं फलं प्रयच्छति तथा नाङ्गीकरोतीति चेत्, तदोभयोरपि मुक्तिमेव ददातीत्येतदेवोक्तं यदीति। एतेन मर्यादांशत्वाजनपूर्वकपुष्टिमार्गेऽङ्गीकार इति स्पष्टमेव ज्ञानमार्गाधिक्यं भक्तिमार्गे। द्वादशेऽध्याये ‘येत्वक्षर’ मिति “ये तु सर्वाणि कर्माणी”त्यादिभिरित्यर्थः। ननु ज्ञानभक्त्योः साम्यमेव कुतो नेति चेत्। न। ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्तयोः भेदस्य च गङ्गादृष्टान्तेनैव पूर्वमुक्तत्वात्तारतम्येन तत्परयोरपि तारतम्यमिति स्पष्टमेव ज्ञानाधिक्यं भक्तिमार्ग इति। तदेवोक्तं गङ्गायां चेति॥

सिध्यतीति हृदयेनाहाप्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्जानन्ता
खण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन
विशेषेण वदन्तु. अधिक माहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु. एतेनैव
भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम्। चिदिति.
चिदित्युपलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः। नामस्वरूपाज्ञाने
तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि. ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं
निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे. स च स्वतेजसा
पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति. तेजोरूपमित्यर्थः। स्वहृदि सदा
श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो
भवति. एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठुक्तं
ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति॥१७-१८-१९॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति.

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।

अन्यथा भावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।

एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः। एतेन
भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति॥२०-२१॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत्।

श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ॥१॥

श्रीमद्भोक्तुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

इति श्रीपितृपादाब्जपरागारक्तचेतसा।

श्रीवल्लभेन सिद्धान्तविवृतेर्विवृतिः कृता॥१॥

इति श्रीगोकुलनाथविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणी समाप्ता।

१. अदलितनलिनीदलैव वापी यदहतपल्लव एव काननान्तः। प्रियसखि न
जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः॥२॥

इत्यधिकं पद्यं क्वचित्।

२.सक्तेति पाठः।

श्रीकृष्णाय नमः। सिद्धान्तमुक्तावली। श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृत्तिसमेता।

प्रणम्यपितृपादाब्जपरागमनुरागतः।कृपयाविशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम्॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥

स्वसिद्धान्तेति. अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे
तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थ निश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः। तमेवाहुः कृष्णसेवेति.
फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति
ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः। तदुक्तया जीवनामेशषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्। अत
एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति.
आवश्यकार्थप्राप्त्यन्तर्कार्यपदोक्तया तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो
ज्ञाप्यते. सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः।
यथा ब्रजसीमन्तिनीनाम्। तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं “ता नाविदमन्यनुषङ्गबद्धधियः
स्वमात्मानमदस्तथेदं” मित्यादिना॥१॥

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति.

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति. वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारि-

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

मुक्ताश्रये रत्नविशेषसेव्ये शुकादिवाञ्छये सुमनोधिगम्ये।

क्षणं गवेन्द्रस्य पदाम्बुजाते विश्रम्यतां मानसराजहंसः॥१॥

मायातमोनिराकर्त्रे गोभिः सर्वार्थदर्शिने।

स्वान्तःस्थाय हरेर्नित्यं द्विजराजाय ते नमः॥२॥

स्वसिद्धान्तरूपमिति. स्वसिद्धान्तस्य शास्त्रार्थनिश्चयरूपत्वं श्रुतिसिद्धत्वादिति
भावः। आवश्यकार्थेति. कृत्याश्चेति सूत्रेणावश्यकार्थमर्थयोरर्थयोः कृत्यसंज्ञकानां
विधानात् कृजोऽप्यावश्यकार्थे प्यत्प्रत्यय इति भावः। भगवदभजने प्रत्यवायबोधकं
महादेववचनं स्कन्दपुराणे श्रूयते “स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव. स कर्ता
सर्वपा-

१.विनिश्चितमिति पाठः। २.काले इति पाठः ।

तैका. एतादृशेन पुंसा कृता चापरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्। एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः। एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्। भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः॥२॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति.

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

द्विरूपं तद्वि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥

यशोदेत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति. एते हि भगवद्भर्मात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकक्षरं ब्रह्म. अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते. एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौः जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति. कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते. कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति. तत् अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति. प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः। एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः। न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः। उभयोर्धर्मयोरैकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्। विरुद्धधर्मश्रयत्वस्य ब्रह्मणि “तदेजति तन्नैजती” त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात्। लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, न त्वलौकिके ब्रह्मणि. इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्चयते॥३॥

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

पानां यो न भक्तस्तवाच्युते’ति. तन्निवृत्त्येति. अहन्ताममतात्म कसंसारसम्बन्धिदुःखस्य निवृत्त्या. भक्तानां भगवद्भजनोपयोग्यहन्ताममतात्म कसंसारस्योपादेयत्वादित्यर्थः। तथोक्तं ब्रह्मादिभिर्गर्भस्तुतौ “त्वय्यम्बुजाक्षा खिलसत्त्वधाम्नी”ति श्लोके। कृष्णशब्देनैवेति. “कृषिर्भूवाचकः शब्दः” “कृष्णस्तु भगवान् स्वय”मित्यादिवाक्यैः कृष्णशब्दस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वादिति भावः। ज्ञान्युपास्यत्वं तन्मुक्तिस्थानत्वं च “ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते” “यदक्षरं वेदविदो वदन्ति” इत्यादिभिर्ज्ञेयम्। अत्रेति. अक्षरप्रपञ्चयोरित्यर्थः। उभयोरिति. प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे सिद्धे विरुद्धयोर्धर्मयोरक्षरब्रह्मणि प्रमाणसिद्धत्वेन सहानवस्थान लक्षणविरोधाभावादित्यर्थः। विरोधपरिहाराय श्रुतिसिद्धं ब्रह्मात्मकत्वे प्रपञ्चस्योच्यमाने मायावादादिभिर्विरोधः स्यात्तत्परिहाराय श्रुतिसिद्धं स्वसिद्धान्तं

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति.

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।

मायिकं सुगणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते. तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः। मायिकमिति हि मायावादिनः। सुगणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः। कार्यं द्वयणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः। स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः। चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते॥४॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति.

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्:

द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥५॥

माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥

“स हैतावानास”, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला”नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः। एकस्वैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति. प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम्। अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम्। आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यदृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिहासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च. अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धूतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा. एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः॥५-६॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति.

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्यर्थे॥७॥

प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।

विहिताच्च फलात्तद्वि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥

यता जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।

यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते॥९॥

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

वक्तुं पूर्वपक्षत्वेन परमतान्याहुरित्यर्थः। अपरमित्येकवचनमेकवदेन तेषां मतानां निराकरणीयत्वेन तुच्छत्वबोधनार्थम्। मूले सेवतामित्यत्रानुदात्तेतां धातूनामात्मने-

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा।

परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः॥११॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्विन्नास्तीत्यर्थः। तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति. भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः। तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव. अथवा. यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः। भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति. देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवद्भेदबुद्ध्यै तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति. स्वामीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानातज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः। एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावाः स्फुरतीति भावः। विहितेति. भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते. तद्बुद्धीत्यर्थः। यद्वा. येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तया^१ देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः। किञ्च. पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

पदानित्यवात्साधुत्वम्। मूर्तिरिति. देहवतीत्यर्थः। भक्तविशेष इति. प्रेमवति भक्त इत्यर्थः। तत्र भगवद्भेदबुद्ध्यै इति. तत्र भगवदाकारे भगवद्भक्ते च साक्षाद्भगवानयं मामनेन रूपेणानुगृह्णाति इति बुद्ध्यै यो भजते तत्र भगवत्प्राकट्येन तस्य यथोक्तं भजनफलं भवति. “तं यथा यथोपासते तथैव भवती”ति श्रुतेः। यस्तु नायं भगवान्, किन्तु भगवत्प्रतिमेयमिति बुद्ध्यै भजते, तस्य भजनं भस्महोमतुल्यं भवति. अनेनैवाभिप्रायेण कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रत्युक्तं “यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वाचां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति स”इति. अत्र सगुणभक्तस्य भेदबुद्धिर्निन्द्यते, न तु प्रतिमादिषु भजनम्। तथा सत्येकादशे श्रीकृष्णोक्तमुद्धवं प्रति प्रतिमादिषु स्वार्चनं विरुध्येत. अस्यार्थः। अहं सर्वत्र तत्तद्रूपः आत्मरूप ईश्वरोन्तर्यामी नियामकश्च वर्ते। एवं सर्वभावेन विद्यमानं भगवन्तं मां हित्वा उपेक्ष्य त्यक्त्वाऽर्चां प्रतिमां यो भजते स भस्मन्येव जुहोति. एतादृशभजने मौढ्यमेव हेतुः, न त्वेवं बोधकं प्रमाणमस्ति. प्राकाम्यमिति. प्रकर्षेणासमन्तात्काम्यं स्यात् सिध्येदित्यर्थः। दार्ष्टान्तिकेऽपि ज्ञातव्यम्।

१.तथा. देवतारूपा सेति पाठः ।

तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः। एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अत एव “मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन”मिति भगवतोक्तम्। एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना. तत्रापीति. साधर्म्येपि. एतदिति. किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते. जगत्त्विति. त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, तेन तदुपनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः। ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव. ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः। सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः। अथवा. भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः।

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

अत एवेति. यतो भगवत्प्रतिमाभक्त्यानेषु भगवत्सान्निध्यमस्ति, ततस्तद्दर्शनस्पर्शनार्चनानि भगवता एकादशस्कन्धे एकादशाध्याये “मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन”मित्यनेनभक्तिकारणत्वेनोक्तानीत्यर्थः। यथा जलमिति मूलम्। शक्ता पापनिवारणादौ समर्था। आध्यात्मिकी तीर्थरूपा. बृहत् अक्षरम्। देवी मूर्तिमती. आधिदैविकीगङ्गा. इह गङ्गायाम्, तत्रापि भगवत्स्वरूपेऽपि, एतत्रैवध्यमुच्यत इत्यर्थः। तदुपनियामकत्वेनेति. जगदुपनियामकत्वेन भगवतैव ब्रह्मादयोऽधिकृता इत्यर्थः। एतदुक्तं नारदीयपुराणे “यस्याज्ञया जगत्सर्वं ब्रह्मा सृजति नित्यशः। विष्णुश्च पालको नित्यं रुद्रः संहारकस्तथा” इति. तेन केवलं प्रपञ्चासक्तानां ब्रह्मादय एव नियामका निग्रहानुग्रहकर्तार इत्यर्थः। ब्रह्मैकरूपमिति. ब्रह्माक्षरं तस्य गुणातीतत्वेनैकरूपत्वाच्चरण रूपत्वाच्चाक्षरोपासकानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता हरिरेवेत्यर्थः। ये त्वेति. भगवद्भक्तानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता श्रीकृष्ण एव, नतु ब्रह्मादयः, कालः, कर्म वा. एतेषां मनोरथपूर्तिः श्रीकृष्णादेव. यतस्ते नाल्पेच्छवः, अतः परमानन्दरूपात्। परमानन्ददायकात् पूर्णानन्दात् पुरुषोत्तमात् कृष्णादेवेष्टसिद्धिरित्यर्थः। अत एव कपिलदेववचनम् “न कर्हि चिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेहि हेति”रिति. षष्ठे तृतीयाध्याये यमवचनं “नैषां वयं नच वयः प्रभवाम दण्ड”इति. पदयोजनिका त्वेवम्। जगत्तु त्रिगुणात्मकत्वेन त्रिविधं प्रोक्तम्। ततो हेतोर्ब्रह्मविष्णुशिवा जगतो देवता अधिष्ठातारः प्रोक्ताः। रूपवज्जगद्विग्रिगुणयुक्ताः। नियामकत्वेन तत्तदुपयुक्तत्वमेवैतेषाम्, न तु गुणाधीनत्वम्, अन्यसाधारण्यापत्तेः। एतेषां भगवदंशत्वेन गुणावतारत्वेनान्येभ्यो विशिष्टत्वात्। ब्रह्मण्यक्षरविषये इत्थमधिष्ठातृत्वेन नियामकत्वेन च हरिः पुरुषोत्तमो मतः सम्मत इत्यर्थः। अस्मिंल्लोके भक्तजने हरिरेव नियामकः। तु पुनः भक्तजने ब्रह्मादिभ्यः कामचारश्च धातोर्गत्यर्थत्वेन प्राप्त्यर्थत्वाद्वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न। च पुनरन्यथा कालकर्मादिभ्योपि न, किन्तु परमानन्दरूपे कृष्णे स्वात्मनि स्वात्मत्वेन स्फुरिते स्वात्मवत् प्रिये सति वा कामचार इति निश्चयः। अतः कारणात् पुनस्तुशब्दः प्रकारान्तरव्युदासार्थः। ब्रह्मादेन प्रकारेण

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति.
 आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥
 उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।
 गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति॥१३॥
 तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति।
 संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा-तथा॥१४॥
 अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।
 तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥
 आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।
 लोकार्थं चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥
 क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः। जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वम् विद्ययान्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारमापद्यन्ते. इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम्। अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः। व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते. न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च. तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरुपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधेरब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधन लक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रक र्षेण पश्यतीत्यर्थः। तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवति न तदतिरिक्तमपेक्षते. भजनोपयोग्यथपि क्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिददुःखी भवति. एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः। यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरुपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्म भावसम्पत्त्यापुरुषोत्तमा विर्भाववान्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षितत ज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्धपर्यापेक्षायां

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

श्रीकृष्णो मूलभूतः पुरुषोत्तमोऽक्षरं तत्पदं तस्मात्प्रपञ्चः समुद्रात्तरङ्गवत् श्रीकृष्ण एव स्वेच्छया सर्वं करोति, सर्वरूपश्च भवति, तस्मादेव सर्वं प्राप्यते इति ब्रह्मवादप्रकारः। अनेन कृष्णे सदानन्दे बुद्धिर्विधीयतां निवेशयतामित्यर्थः। छिद्रा व्योम्नीति. व्योम्नि यथा क्षुद्रैरूपाधिभिः छिद्रप्रदेशाः प्रतीयन्ते, तथाऽविद्यातद्भ्रमैरक्षरे चेतना अपि प्रतीयन्त इत्यर्थः। उपाधिनाश इति सार्धश्लोकेन ज्ञानिभक्तावस्थोक्ता. भजनप्रकारमाहुः तस्मादिति. भक्तिमार्गीयो भूत्वा भजने लोकानुरोधं त्यक्त्वा बाललीलादिषु यैव लीला स्वस्यात्यन्तं रोचते तल्लीलासहितं कृष्णमेव, नत्ववतारान्तरमपि विशेषेण चिन्तयेदित्यर्थः। तदभावे बाधकमाहुः लोकार्थं चेदिति. मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्ताविति. अत्र ज्ञानी

तदप्राप्त्या क्लेशभागभवतीत्यर्थः। तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः। अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलित्यतीति ज्ञेयम्। आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति. श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्याननन्देषु विहरन्तमित्यर्थः। ते तु ब्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव. अत आत्मपदं भगवत्परम्॥१३-१४-१५-१६॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः। उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति.

ज्ञानभावे पुष्टिमार्गीं तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति. तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा. तस्य विधिर्न नियामक इति भावः। मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति. यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्भक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः। एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानादिक इति. लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं तस्य मुक्तिरेवेपि सर्वे वदन्ति. तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्। ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च. एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये. गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये. गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्। न हि भक्त्या देवतादृष्टसमः पूर्वो भवति. अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति “यो मामेवमसम्मूढ” इत्युपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेने”ति प्रभुरुक्तवान्। अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम्। ऋग्वेदेपि पठ्यते “तमु स्तोतारः पूर्वं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन. आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे”. हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्वं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः। ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्। स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा. जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णं, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तन

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

कर्ममार्गस्थो ज्ञेयो, भक्तो मर्यादाङ्गीकारवान् ज्ञेयः. तदोभयोरिति. ज्ञानिनोऽक्षरसा-

पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति. तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते. भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्ज्ञानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु. अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत् कीर्तयन्तु. एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम्। चिदिति. चिदित्युपलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः। नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि. ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निदोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे. स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति. तेजोरूपमित्यर्थः। स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति. एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति॥१७-१८-१९॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति.

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।

अन्यथा भावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।

एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः। एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति॥२०-२१॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत्।

श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ॥१॥

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी।

युज्यम्, अत्र भक्तस्य पुरुषोत्तमसायुज्यमित्यर्थः। भक्त्यभाव इति. स्नेहमाहात्म्यज्ञानयोरभाव इत्यर्थः।

श्रीमदाचार्यसिद्धान्तमुक्तावल्याः प्रणम्य तान्।

श्रीमत्कल्याणरायेण टिप्पणी विवृतेः कृता॥१॥

इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता

सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी समाप्ता।

१. अदलितनलिनीदलैव वापी यदहतपल्लव एव काननान्तः। प्रियसखि न जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः॥२॥ इत्यधिकं पद्यं क्वचित्।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तमुक्तावली।

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृत्तिसमेता।

प्रणम्यपितृपादाब्जपरागमनुरागतः। कृपयाविशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम्॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्॥

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥

स्वसिद्धान्तेति. अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यन् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान्।

तत्कृपातो यथाबुद्धिं तदुक्तीर्विवृणोत्ययम्॥१॥

अथ यच्छ्रीमदाचार्यचरणैर्भगवत्प्राप्त्यर्थं निबन्धे वैदिकमार्गभक्तिमार्गौ निरूपितौ, निरोधसुबोधिन्यां च स्वतन्त्रभक्तिमार्गो निरूपितः, तत्किं तदर्थं तेषां विकल्पप्राधान्याय, आहोस्विदेकतरमुख्यत्वायेति स्वीयानां संशयस्य तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गपतितानां सेवास्वरूपतदधिकारादिविषयाणां संशयान्तराणां चोद्भवमवेक्ष्य तन्निवारणाय स्वसिद्धान्तनिष्कर्षं सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणाः सङ्क्षेपेण प्रकाशितवन्तः। तस्य ग्रन्थस्य दुर्ज्ञेयत्वमालोच्य श्रीमत्प्रभुचरणास्तद्विवरीतुं प्रकृतोपयोगि मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमुपनिबन्धन्तो विवरणं प्रतिजानते प्रणम्येत्यादि. अत्रानुरागतः प्रणामोक्त्या एतद्ग्रन्थार्थवबोधेपि तस्यैव विघ्नविघातकत्वेन प्रकृतोपयोगित्वं द्योतितम्। कृपयेति. श्रीमदाचार्यकृपया. स्वीयोपरि स्वकृपया वा. अतःपरं मूलं विवरणीयम्। तत्रापि नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामीतिमङ्गलघटितमेव प्रतिज्ञावाक्यम्। तत्रानुबन्धचतुष्टयं यद्यपि वक्तव्यम्, तथापि तत्र स्वसिद्धान्तविनिश्चयमितिपदेन विषयस्योक्तत्वात् विषयविशेषणीभूतेन स्वपदेनैव श्रीमदाचार्यचरणानुरक्तस्य तत्सिद्धान्तजिज्ञासोरधिकारिणोपि लाभाद्विषयोक्त्यैव प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य सम्बन्धस्यापि लाभात्प्रयोजनमेवानुक्तत्वादस्फुटमवशिष्यते. तदप्युपसंहारवाक्ये “एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशया”दित्यनेन वक्ष्यते. तद् हृदि कृत्वात्र स्फुटीकर्तुं प्रतिज्ञावाक्यमेव व्याख्यातुमुपक्षिप्य व्याकुर्वन्ति अग्रे वक्ष्यमाणैरित्यादि. अग्र इति. “मायिकं सगुण”मित्यग्रिमग्रन्थे. शास्त्रार्थसन्देह

१. विनिश्चितमिति पाठः।

तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थं निश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः। तमेवाहुः कृष्णसेवेति। फलात्मकनामोक्ता स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते। सेवा हि सेवकधर्मः। तदुक्तया जीवनामेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

इति। शास्त्रं काण्डद्वयात्मको वेदः, तदर्थनिश्चयका वेदान्ता वा। अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च, तद्विषयके सन्देहे। तथा च तैवेदप्रयोजनविषयके तत्तात्पर्यविषयके च संशये जाते तन्निरासाय तथेति भावः। स्वसिद्धान्तस्य वेदार्थनिश्चयरूपत्वं च। “भगवान् ब्रह्मकात्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवे”दिति द्वितीयस्कन्धवाक्यात्। “वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः। तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता”। “भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः। निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वथ्याविशेन्मन” इत्युद्धवप्रश्ने, “धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं शमं दमम्। अन्ये वदन्ति वै स्वार्थमैश्वर्यत्यागभोजनम्। केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्। आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः। दुःखोदकास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः। मय्यर्पितात्मनः सम्यङ्गिरपेक्षस्य सर्वतः। मय्यात्मना सुखं यत्तत्कुतस्तद्विषयात्मना”मित्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यात्। “सर्वः खल्विदं ब्रह्मे”ति श्रुते “ब्रह्मविद्याश्रुतेश्चा” वगन्तव्यम्। एवं प्रतिज्ञावाक्यव्याख्यानेनाचार्याणां सिद्धान्तस्य वेदार्थनिष्कर्षरूपत्वं बोधयित्वा पूर्वं साधननिष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवाक्यमवतार्य व्याकुर्वन्ति फलात्मकेत्यादि। “कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते”। “पापकर्षणो” इति श्रुतेः कृष्णपदं परब्रह्मनामत्वेनावगतम्। परं ब्रह्मैव च “ब्रह्मविदोऽप्येति पर”मिति श्रुत्या भूमविद्योक्तनित्यसुखनिरवधिसुखरूपतया च परमफलत्वेनानन्दमयाधिकरणादौ निर्णीतम्। अतः कृष्ण इति फलात्मकस्य भगवतो नाम, तदुक्तया तत्समभिव्याहारेण तथा सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः। “सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत” इति वाक्योक्तभक्तिलक्षणा सेति सिद्धान्त इति ज्ञाप्यत इत्यर्थः। भक्तिपदमनुक्त्वा यत्सेवापदमुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः सेवा हीत्यादि। जीवानाम्, “एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृषोऽष्टाविस्तृतम्। एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत” इति प्राचीनबर्हिषं प्रति नारदवाक्यदेहविशिष्टनां चेतनानाम्। “सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः प्रभवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते”ति गीतावाक्याद्भगवज्जन्यत्वेन तत्पोष्यत्वम्, तेन सर्वेषां तेषां सहजदासत्वं गर्भदासत्वं ज्ञापितम्। तेनासुराणां याऽधोगतिः, सापि “आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि-जन्मनी”त्यत्र मूढा इति विशेषणेन दासधर्माकरणादेवेति सिध्यति। अत एव “देवोऽसुरो मनुष्यो वे”ति प्रह्लादवाक्ये भजना-

१. ‘ ’ चिह्नान्तर्गतं पुस्तकद्वये नास्ति। २. भूमविद्येतिपाठः।

अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोऽस्तीत्याहुः^१ सदेति। आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्तया तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते। सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते। तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः। यथा ब्रजसीमन्तिनीनाम्। तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं “ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद” मित्यादिना॥१॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

धिकारस्तेषामुच्यते। तेन सर्वेषां चेतनानां जीवानां दासत्वमक्षुण्णमित्यर्थः। तदेतदभिसन्धाय सदापदाशयमाहुः अत इत्यादि। कार्यपदतात्पर्यमाहुः आवश्यकेत्यादि। आवश्यकार्थण्ययोर्णिनिरित्यर्थद्वयं प्रस्तुत्य ‘कृत्याश्चे’ति सूत्रे कृत्यप्रत्यया विहिताः। तत्रावश्यकत्वं नाम पूर्वं कथञ्चित् ज्ञातस्य पश्चात्तदभावेऽनिष्टजननज्ञानपूर्वकज्ञानविषयत्वं वा तथा कृतिविषयत्वं वा, नतु विधिविषयत्वमात्रम्। प्रैषानुवादसूत्रेणैव तदर्थलाभेनास्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अतस्तदर्थकण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवति। प्रत्यवायस्य पातकत्वात्तेन भक्तिमार्गाद्भ्यसेतेति भावो ज्ञाप्यते। तथा च स्वस्मिन् भगवद्दासत्वमननुसन्धाय सेवायां च स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वमावश्यकदासधर्मत्वं चानुसन्धाय सर्वकालं सेवाकरणं साधननिष्कर्ष इत्यर्थः। नन्वत्र सेव्यसन्तो जनिका पूर्वोक्तप्रकारकायादिव्यापाररूपा क्रिया सेवात्वेन विवक्षिता। यथा राजसेवा गुरुसेवेति। तस्याः सर्वदा कार्यत्वकथनमशक्योपदेशरूपमित्याशङ्क्य, तत्र समाधिं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमं वाक्यं व्याकुर्वन्ति सा चेत्यारभ्य इत्यादिनेत्यन्तम्। तथाच कायादित्रितयव्यापाररूपापि विचार्यमाणा बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा। तयोराभ्यन्तरी मानसी बाह्यायाः फलरूपा। बाह्या तु तत्साधनरूपा। तयोरवान्तरफलरूपत्वं सर्वदा कार्यत्वं च फलाध्यायाद्यपादे “आवृत्तिसकृदुपदेशा”दित्यस्य प्रथमवर्णके सिद्धम्। तत्र हि “द्रष्टव्य” इति पदेन श्रवणादीनां फलरूपं दर्शनं पूर्वमुक्त्वा, “श्रोतव्य” इत्यादिना तत्साधनानां पश्चात्कथनेनात्मनः परोक्षमपि ज्ञानमवान्तरफलरूपं ज्ञानमार्गे। भक्तिमार्गे तु परमफलरूपज्ञानसजातीयत्वेनानापि फलमध्यपात्येव श्रुत्यभिमतम्”। अत एव “सूत्रकृदपि फलप्रकारणे साधनविचारं चकारे”ति कथनादसकृदुपदेशकथनाच्च। मानस्याः मुख्यत्वं च साधनाध्याये सहकार्यन्तराधिकरणे। श्रुतौ कायिकं वाचिकं मानसिकं च साधनं विधीयते। तत्र मानसं मुख्यम्। “मनसैवावाप्तव्य”मिति श्रुतेः। तस्यापि स्नेहोदयपर्यन्तमेव विहितत्वेन कर्तव्यता। तदुत्तरं तु स्वत एव तत्सम्भव इति निर्णयात्। पुष्टिमार्गे तु तस्य या परा काष्ठा, सात्र “यथा ब्रजसीमन्तिनीना”मित्यादिना दर्शिता। यदि हि प्रकारान्तरं तत उत्कृष्टं भगवदभिप्रेतं स्यात्, तदा भगवान् “अथैतत्परमं गुह्य”मित्यत्र “सुगोप्यमपि वक्ष्यामी”ति प्रतिज्ञायैतमेव प्रकारं तथात्वेन न वदेत्, अतस्तथा। तेन साधनरूपाया असकृदावर्तनमेव सदा कार्यत्वम्। मानस्यास्तु भगवति मनोगत्यविच्छेदरूपम्। तच्च बाह्याया आवर्तनात्साधनीयम्, अतो नाशक्योपदेशरूपत्वमित्यर्थः॥१॥

१. काले इति पाठः।

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति.

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारि-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

तदेतदग्रिमावतरणेन निगमयन्ति एतदेवेत्यादि. अत्र मूले मानस्याः स्वरूपं “चेतस्तत्प्रवणं सेवे”त्यनेनोक्तम्। तत्र प्रवणपदं तावत् “प्रवणं क्रमनिम्नोर्व्यां प्रह्वे ना तु चतुष्पथे” इत्यमरात्, “प्रवणस्तु क्षणे प्रह्वे क्रमनिम्ने चतुष्पथे. आयत्ते चे”त्यनेकार्थाच्चैतेषु रूढम्। मनश्च वेदे अन्नमयत्वेन श्रावणात्पार्थिवं पृथिवीपोषितं चेति सिद्धम्। एवं सति तस्मिन् कृष्णे पूर्वं प्रह्वमीषन्नम्रं तत आयत्तं तदधीनं ततः क्रमेण भगवदेकतानत्वरूपां “ता नाविद”न्नितिवाक्योक्तप्रकारां गभीरतां प्राप्तं यच्चेतस्तदेव सेवारूपम्। समाधाविव भगवति लयं प्राप्तमिति यावत्। नतु वृत्त्यन्तरविशिष्टमित्यर्थः। (न च क्रमनिम्नत्वस्याचार्याशयगोचरत्वे मानाभावः शङ्क्यः। भक्तिवर्धिन्यां बीजदादुर्यप्रकारकथने “ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवे”दित्यत्र तथाङ्गीकारस्य स्फुटत्वादिति^१)। एवं मानसीं साध्यरूपां निष्कृष्य साधनरूपाया निष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतार्य व्याकुर्वन्ति उक्तसेवेत्यादि. अत्रेदं बोध्यते. इन्द्रियव्यापारं विना केवलस्य देहस्य न सेवाकर्तृत्वमिति प्रत्यक्षतोऽवसीयते. अत इन्द्रियव्यापारापेक्षायां यथा ज्ञानमार्गे नित्यनैमित्तिककर्मसहकृतं श्रवणादित्रयं पूर्वं साधनं, तत्परिपाकदशायां प्रब्राजसहकृतं केवलमुपासनात्मकं ज्ञानम्; तथा भक्तिमार्गे “एतान्यपि तु कर्माणी”ति गीतोक्तरीत्या तत्सहकृतं श्रवणादिनवकम्, तदप्येकादशस्कन्धे “पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर”मित्युपक्रम्य “एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्भवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्ति”रित्यन्तोक्तरीत्या क्रियमाणं साधनम्। तत्परिपाकदशायां तु स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम्। तच्चेद्वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते, तदा सा चित्तस्य राजसत्त्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते, तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति. न च यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलतीति शङ्क्यम्। तत्रत्विग्दक्षिणावरणादिवदत्र तद्दानादेर्भक्तिमार्गे भगवतानुक्तत्वात्। अतस्तथा न कार्यम्, किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्। तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं सेवां जनयन्ती स्वयमपि पश्चात्फलरूपतया ब्रजस्थानामिव पर्यवस्यतीति. एतदेव निबन्धे “विशिष्टरूपं वेदार्थ” इत्यादिना “एतन्मार्गद्वयं प्रोक्त”मित्यन्तेन सविवरणेन बोधितम्। यत्पुनरादिमे “सेव्यः सायुज्यकाम्यये”त्युक्तम्, तत्तु मुख्याधिकाराभावपरम्। अत एव सर्वनिर्णये “भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत” इत्युक्तम्, अतो न दोषः। एवं

१. () क्वचिन्नास्ति.

तैका. एतादृशेन पुंसा कृता चापरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्। एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः। एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्। भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः॥२॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति.

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

साधननिष्कर्षमुक्त्वा तस्याग्रिमव्यवस्थां वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति एतादृशस्येत्यादि. अत्रैतादृशस्येति पदेनेदं ज्ञाप्यते. यदाधुनिकैस्तादृशाधिकारराहित्येऽपि मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण क्रियते, तत्तु भक्तिहंसे विधिमजानता बालेन पित्रादिशिक्षया कृतः सन्ध्यावन्दनादिः प्रत्यवायपरिहारेण यथा आरात् कर्ममार्गीयफलोपकारी भवति, तथैतदपि”. “न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छती”ति न्यायेनारादुपकरोति, न तु साक्षात्। अतः सद्भिरूपनिष्ठेन प्रकारेण शास्त्रार्थं बुद्ध्वा करणीयमिति व्याकुर्वन्ति अहन्तेत्यादि. तन्निवृत्त्येति. अहन्ताममतात्मकसंसारनिवृत्त्या. अग्र इति. ब्रह्मबोधनपदे. तस्य स्वरूपं स्वात्मनीत्यादिनोक्तम्। एतस्यावान्तरफलस्योक्तेः प्रयोजनमाहुः भगवदित्यादि. अभिनिविष्टस्येति. “स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्वृहारुचिः। गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते. यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही”ति रीत्या जातव्यसनस्य तदुत्तरं भक्तिवृद्धिमतः। तथाच क्रियमाणा बाह्याभ्यन्तरी यथोक्तरूपा जाता अतः परं परमं फलं साधयिष्यतीति तेन निश्चेयमिति ज्ञापनायेदमवान्तरफलमुक्तमित्यर्थः॥२॥

एतस्मिन् सम्पन्ने दुःखनिवृत्त्योक्तविधज्ञानमेव मानसीकाष्ठां मन्येत, तदा भक्तिमार्गीयं फलं न भवेत्, अतस्तन्निवृत्त्यर्थं फलनिष्कर्षं प्रमेयनिष्कर्षं च सार्धनवभिर्वक्तुं प्रथममवान्तरप्रमेयं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति इदमेवेत्यादि. इदमिति. जीवस्वरूपमक्षरं वा. व्याकुर्वन्ति यशोदेत्यादि. अत्र “परं ब्रह्म तु कृष्णो ही”ति मूलम्। तत्र तुः पूर्वव्यावर्तकः। हिर्हेतौ। तथा च तयो हेतोः। “कृषिर्भूवाचकः शब्दः” “गोपवेशमभ्रामम्” “गोपवेशो मे पुरुषस्तदा आविर्बभूवे” त्यादितापनीयश्रुतिभिः “कृष्णस्तुभगवान् स्वय” मित्यादिस्मृतिभिरुपनिषद्गोपालतापिनीति नाम्ना च “यशोदेत्सङ्गलालितः कृष्णः अक्षरात्परतः परः. एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते. परं ज्योतिरूपसम्पद्य

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति। एते हि भगवद्गुणमात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकक्षरं ब्रह्म। अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते। एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौः जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति। कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते। कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति। तत् अक्षरं ब्रह्म।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः” इत्यादिश्रुतेः, “यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः”। “उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः”। “परं ब्रह्म परं धामे”त्यादिस्मृतेश्च परं ब्रह्म, नत्वन्यः “वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि” “रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भर”मित्याद्युक्तो विभूत्यादिरूपो न इति ज्ञापनाय मूलस्य परब्रह्मणो नामोक्तम्। यदि हि सोऽवतारः स्यात्, तदा यदुवंशोद्भवो मुख्य इति यादवतापिन्युपनिषत्स्यात्, गोपरीपेण च नाविर्भवेदिति। अतस्तत्रावतारत्वं न ज्ञेयम्। अक्षरं च परब्रह्मत्वेन न ज्ञेयमित्यर्थः। ननु “सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे” इति तापनीयश्रुतिवत् “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे”ति तैत्तिरीयेपि श्रावणादक्षरकृष्णयोः स्वरूपलक्षणैक्यादभेद एवाङ्गीकार्य इत्याशङ्कां निवारयन्तीत्याशयेनाग्रिममव

तारयन्ति अत्रेत्यादि। सच्चिदानन्दकं बृहदित्यत्रापि देहलीदीपवत् हिशब्दः सम्बध्यत इत्याशयेन व्याकुर्वन्ति एते हीत्यादि, ज्ञाप्यत इत्यन्तम्। हिर्हेतौ। एत इति। सच्चिदानन्दाः। कप्रत्ययश्च प्रतिकृतौ “इवे प्रतिकृता”वित्यनेन भवति। कुत्सापक्षेऽपि प्रतिकृतित्वादेन हीनताद्योतम्। तथा चानन्दमीमांसायां शतानन्दिभ्य आधिक्येपि “ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्द” इति गणनापरिच्छेदस्य तैत्तिरीये श्रावणात्, बृहदारण्यके च “ते ये शतं प्रजायतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्द” इति तदानन्दिनो लोकत्वेन विशेषितत्वात्, ततः परस्य च “यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे”त्यनेनापरिच्छिन्नानन्दत्वश्रावणतयोः स्वरूपैक्येपि भेद एव पर्यवस्यति। इदं यथा तथा समन्वयाध्याये अदृश्यत्वाद्यधिकरणे प्रपञ्चितम्। तेनाभेदोऽप्यमित्रादिवत् भेदविरुद्धसम्पद्रूपस्तादाम्य एव पर्यवस्यति। तेनाक्षरस्य पुरुषोत्तमान्यूनत्वमप्यक्षुण्णमिति तदेव भेदकमित्यर्थः। एवमत्र भगवतः कृष्णस्य परब्रह्मत्वकथनेन फलनिष्कर्ष उक्तः।

अतः परमवान्तरप्रमेयनिष्कर्ष वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति कृष्णशब्देनेत्यादि। निरूपितमिति। मुख्यप्रमेयत्वेन फलत्वेन च निरूपितम्। निरूपयन्तीति अवान्तरप्रमेयत्वेन निरूपयन्ति। व्याकुर्वन्ति तदित्यादि। तत् अक्षरं ब्रह्म द्विरूपम्। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तददृश्यमग्राह्यम्। एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूल-

तदेव रूपद्रुमं विशदयन्ति सर्वं स्मादिति। प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः। एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्मुपास्मत्त्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः। न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीमः। उभयोर्धर्मोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्। विरुद्धधर्मश्रमत्वस्म ब्रह्मणि ज्ञातदेजति तन्नैजतीङ्ग त्मादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात्। लोक एव विरोधः शङ्कनीमो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि। इदं मथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्चमते॥३॥

विरोधपरिहाराम स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्माहुः अपरमिति।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।

मायिकं सुगणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते। तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

मनष्विफ्रमत्यादिश्रुतिषु जङ्घअक्षरं ब्रह्म परमफ्रममित्यादिस्मृतिषु च यदुक्तं, तत् द्विप्रकारकं कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः तदेवेत्यादि। एकपदं देहलीदीपवदग्रिमेऽपि सम्बध्यत इत्याशयेनाहुः एकं रूपमित्यादि। अत्र पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं जङ्घतदक्षरे परमे व्योमन्निफ्रमति श्रुतौ, आदिपदोक्तं चरणादिरूपत्वं च जङ्घब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेफ्रमति श्रुतौ स्फुटम्। शेषं जङ्घत्वथ परेफ्रमत्युक्तश्रुतेर्ज्ञेयम्। तथाचैवं मूलयोजना। हि यतो हेतोः, सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणमेकमतो द्विरूपमिति। ननु रूपद्वयस्येतेतरवैलक्षणेन भेदे रूपिण ऐक्यं न प्रमातुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः नचेत्यादि, ब्रह्मणीत्यन्तम्। भेद इति, रूपिणो भेदः। अत्रेपि, अस्मिन्मते। तथा च लोकतः प्रमातुमशक्यत्वेऽपि श्रुतितः प्रमातुं शक्यत इत्यर्थः। ननु लोकविरोधे श्रुतेः स्तावकत्वं कल्पनीयमित्यत आहुः इदं यथेत्यादि। श्रुतेः स्तुतिपरत्वमुपचारपरत्वं च वारयितुमेव ब्रह्मसूत्रप्रवृत्तेर्भाष्ये प्रतिपादितत्वात्तत्र स्तावकत्वादिकं न कल्पयितुं शक्यमित्यर्थः॥३॥

ननु जङ्घएषाऽविद्या जगत्सर्वफ्रममिति नृसिंहतापनीयवाक्यावलम्बनेन मायावादो, जङ्घयस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतफ्रमहत्यादिवाक्यालम्बनेन साङ्ख्यादिवादः प्रवृत्त इति कथं तन्मूलश्रुतिविरोधपरिहार इत्याशङ्क्यां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारमन्ति विरोधपरीत्मादि। व्याकुर्वन्ति वेदेत्मादि। वादिनो बहुधा जगुरित्मर्थः। तथा च नुतितात्पर्यस्म तत्र प्रकारान्तरेण सत्त्वात्तेषां भिन्नत्वमित्यर्थः। तदेतद्वोधमितुं मतप्रणेतृनाहुः मामिकमित्मादिना। मामिकमिति, मामोपादानकं सगुणेश्चरकर्तृकम्। एवमग्रेपि तत्तन्मतरिन्मा बोधम्। साङ्ख्यमपदं पातञ्जलानामप्युपलक्षकम्। नैमामिकपदं च वैशेषिकानाम्। वेदब्राह्ममतानीति चतुर्विधबौद्धार्हतलोकामतिकवामशक्तादिमतानि। मूले इति नैकधेति। इतिः प्रकारे नैकधेति बहुधापदोक्तार्थस्य निगमनम्॥४॥&

मायिकमिति हि मायावादिनः। सुगणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः। कार्यं द्वयणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः। स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः। चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते॥४॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति.

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्:

द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥५॥

माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥

“स हैतावानास”, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला” नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः। एकस्वैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति. प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम्। अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम्। आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यदृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिहासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च. अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजा-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

तर्हि तानि स्वमतबोधनाय तत्स्थापनाय च दूष्याणीत्याकाङ्क्षायामग्रिमवतारयन्ति तानीत्यादि. श्रुतिबलेन निराकृतानीति. श्रुतितात्पर्यप्रकाशनेन भाष्ये प्रपञ्चेन निराकृतानि. इदं यथा तथाविरोधाध्यायभाष्यप्रकाशादवगन्तव्यम्। व्याकुर्वन्ति स हैतावा” नित्यादि अत्र प्रथमा श्रुतिर्बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे. द्वितीया छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायाम्। आदिपदेन “यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रवर्तन्ते. तत्र चैवापियन्ती”ति मुण्डकश्रुतिः सङ्गृह्यते. तेन बह्विषु श्रुतिष्वक्षरस्यैव प्रपञ्चप्रकारेण भवनस्य निरूपणात्, नृसिंहोत्तरतापनीयेऽप्युक्तवाक्योपसंहारे अविद्याया नानाविधक्षेत्रदर्शनत्वस्य परमात्मन एव जगद्योनित्वस्य च निगमनान्न श्रुतीनामितरेतरविरोध इति पूर्वोक्तं सर्वमक्षुण्णमित्यर्थः॥४ १/२॥

एवमवान्तरप्रमेयं निरूप्य तस्य बालबोधनार्थं सार्धकारिकया वैशद्यं कुर्वन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति एकस्यैवेत्यादि. व्याकुर्वन्ति प्रपञ्चेत्यादि. मूले चकारोऽनुक्तसमुच्चायक इत्याशयेनाहुः अस्तीत्यादि. अग्रिमेति. माहात्म्यसंयुतेत्यादिग्रन्थेनोक्ता. तत्सत्त्वेमानमाहुः योद्धृतेत्यादि. उद्धृतजलाविशेषेऽपीति. प्रवाहादुद्धृतं यज्जलं तस्य प्रवाहजलादविशेषेऽपि प्रवाहजलसाम्येऽपि. तत्रैवेति. प्रवाह एव न तूद्धृतजले. तथा च यदि तीर्थरूपातिरिक्ता न स्यात्, तदा देशान्तर उद्धृतजलस्नादिनापि तत्तीर्थस्नानफलं स्मर्येत, तत्तु न दृश्यत इति तीर्थरूपा जलरूपाद्भिन्नैवेत्यर्थः। दार्ष्टान्तिके सङ्गम-

दिभिः फलदा. एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति तथा बुध्यतामित्यर्थः॥५-६॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति.

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्यै॥७॥

प्रत्यक्षा सा व सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।

विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥

यता जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।

यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते॥९॥

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा।

परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः॥११॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः। तत्र प्रमाणमाहुः मूर्तिरिति. भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः। तदपि क्वचिदेव, भक्त्युदेकदशायामेव. अथवा. यत्र क्वचिद्देहादिष्वपीत्यर्थः। भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति. देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युदेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

यन्ति एवमेवेत्यादि. प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमिति. प्रपञ्चश्च तद्भिन्नं च प्रपञ्चतद्भिन्ने ते रूपे यस्य तत्। (न चात्र बहुव्रीहिणा रूपिणस्तृतीयत्वं शङ्क्यम्। एकदशव्यूहो रुद्र इति वक्तुमुपपत्तेः)। तथा बुध्यतामिति. वृद्धिहासभाक्त्वतद्राहित्यपूर्वकमाहात्म्ययुक्तत्वाभ्यां बुध्यताम्। तथा चाक्षरोपासनया यत्फलम्, न तत्प्रपञ्चोपासनयेति तयोरैक्येप्येवं भेद इत्यर्थः। मूले सेवतामिति शत्रुनुदात्तेल्लक्षणस्यात्मनेपदस्य चक्षिडो डित्करणज्ज्ञापकादनित्यत्वेन बोध्यः। “त्वां सेवतां सुरकृता बहवोन्तराया” इत्यादिपुराणप्रयोगाच्च॥५-६॥

एवमवान्तरप्रमेयरूपमक्षरं दृष्टान्तेन बोधयित्वा मुख्यप्रमेयस्य पुरुषोत्तमस्य कृष्णस्य सर्वसामर्थ्यं सर्वत्र व्याप्तिं च बोधयितुं सपादकारिकां वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति आधिदैविकमित्यादि. व्याकुर्वन्ति उक्तेत्यादि. प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थ इत्यन्तम्। अनेन व्याप्तिरुक्ता. तत्र प्रमाणमिति. प्रवाहतीर्थातिरिक्तदेवतासत्त्वे प्रमाणम्। मूर्तिरिति. भीष्मादिभातृत्वेन भगीरथदृष्टात्वादिना पुराणप्रसिद्धशरीरयुक्ता. तेन शब्दः प्रमाणव्युक्तम्। प्रत्यक्षविशेषस्यापि तत्र प्रामाण्यमाहुः भक्त्यैत्यादि. (अयमर्थः। अंशुमद्दिलीपाभ्यां बहुकालं तपःकरणेपि गङ्गा न प्रत्यक्षाऽभूत्। भगीरथस्य तु प्रत्यक्षा प्रसन्ना वरदास्मीत्युवाचेपि भगीरथतपसि भक्तिविशेषसाहित्यमेव समुहवत्सु महत्वम्। अत एव ब्रह्मवैवर्तखण्डे “भगीरथस्त्वस्य पुत्रो महाभागवतः सुधीः। वैष्णवो विष्णुभक्तेश्च”ति विशेषणमुक्तम्।

गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवद्भेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति. स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः। एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः। विहितेति. भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते. तद्भूदीत्यर्थः। यद्वा. येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तथा देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

तस्य च तपस्यत एव प्रकटा बभूव. अतोऽन्यत्रापि तथेत्यर्थः। मूले भक्तिपदमात्रकथनात्क्वचित्पद उद्रेकदशारूपविशेषबोधनमयुक्तमिवाभातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि. ननु यदि गृहादिष्वपि गङ्गादर्शनं भक्त्यैव स्यात्, सर्वेषां भक्तानां स्यात्, तनु नेति कथमेवमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति भक्तविशेष इत्यादि. व्याकुर्वन्ति देवतेत्यादि. प्रवाहमध्य एवेति. प्रवाहसम्बन्धिन्येव गङ्गाद्वारादिरूपेक्वचिद्देशे. मूले गङ्गायां चेति. चोऽवधारणे. विशेषपदस्यार्थेष्टीकायां भक्त्युद्रेकपदेन विवृतोवगन्तव्यः। एतावत्कथनप्रयोजनमाहुः। एतेनेत्यादि. एतेनेति. भौतिक्यां गङ्गायामेवमाधिदैविकगङ्गास्वरूपप्राकट्यबोधनेन. तत्रेति. भगवदाकारे भगवद्भक्ते च. अग्रिमव्यवस्थामिति. आधिदैविकरूपस्थितिकार्यम्। प्राकाम्यमिति. प्राकाम्यं बाहुल्यम्। “प्रकामसुभगवत्त्वद्वात्रसंश्लेषत” इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। तदत्र किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायां विवृण्वन्ति स्वाभीष्टेत्यादि. तथा च तादृग्भक्तप्रत्यक्षया तथा गङ्गायाकृत्वा तज्जले भक्तस्यानिषिद्धव्यवहारबाहुल्यरूपं प्राकाम्यं स्यादित्यर्थः। एतत्कथनप्रयोजनमाहुः एवमित्यादि. अग्रिमार्थं व्याकुर्वन्ति भक्त्येत्यादि. तथा चैवं भगवतः कृष्णस्य साक्षात्कारानन्तरं ज्ञानिफलान्मोक्षादपि प्रपञ्चे सर्वत्र भगवदधिष्ठानत्वरूपेण ज्ञानं विशिष्यत इति भावः। मूले चोप्यर्थे. तदिति, गङ्गादर्शनम्। हिर्निश्चये. यथा तथापदयोरध्याहारः। तथा च हि निश्चयेन तत्तादृशमक्त्या गङ्गादर्शनं विहितादपि फलात्प्रतीत्यापि यथा विशिष्यते तथा तथा जले प्राकाम्यं स्यादिति मूलयोजना. अस्मिन् व्याख्यानेऽध्याहारादिदोषादरुच्या प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि. अस्मिन्पक्षे प्राकाम्यं नाम प्रकृष्टः कामः प्रकामस्तस्य कर्म। “गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे”त्यनेन “भावे कर्मणि चे”त्यर्थद्वयेऽनुशासनादत्र कर्मणि ष्यञ्। तदेव विवृतं प्रकृष्टेत्यादिना. तथाच यथा तथैवं तथा प्रपञ्चेपि यत्र भगवत्सम्बन्धानुभवः, तत्र भगवत्स्वरूपे गुर्वादौ च श्रद्धापूर्वको व्यवहारः श्रद्धालूनामिति भावः। अग्रिमं विवृण्वन्ति

१.तथा. देवतारूपा सेति पाठः।

किञ्च. पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः। एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अत एव “मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन”मिति भगवतोक्तम्। एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना. तत्रापीति. साधर्म्येपि. एतदिति. किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते. जगत्त्विति. त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं.

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

किञ्चेत्यादि. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमित्यादि. अत्र प्रमाणमाहुः अत एवेत्यादि. अन्येभ्यो भगवदीयानामाधिकादेवैकादशस्कन्धे स्वचिह्नस्वभक्तयोर्दर्शनादिकं भक्तिकारणमध्ये गणितम्, अतस्तथेत्यर्थः। एवं बालान् यत् बोधयितुं दृष्टान्त उक्तो “द्विरूपं चापी”त्यादिना, तत्र तत्तत्कार्यप्रयोजकता न तयोः, किन्त्वाधिदैविकस्यैवेति बोधितम्। तदेतन्निगमयन्ति मूले यथा जलमित्यादिपादत्रयेण. मूले सर्वमिति, प्रपञ्चः। शक्तेति, समर्था। देवीति, मूर्तिमित्यादिदैविकी. तथा च दृष्टगङ्गाकानां यथा जले तत्स्थानत्वज्ञानादनिषिद्धयथेष्टव्यवहारः यथा च तीर्थदर्शनेऽन्यस्मादाधिक्यज्ञानविशेषो जलेन तीर्थरूपेण च भवति तथा दृष्टभगवत्कानां भगवत्स्वरूपगुर्वादिभिः सर्वत्र प्रपञ्चे प्राणिमात्रे भगवद्भावस्फूर्तिः, अक्षरेण च ज्ञानिमोक्षदप्यधिकभगवद्भामत्वादिरूपाक्षरज्ञानात्मकं फलं भवति. अदृष्टगङ्गाकानां च श्रद्धालूनां यथा जलेन श्रद्धापूर्वकः स्नानादिव्यवहारः, तीर्थेन च जलेऽन्येभ्य आधिक्यज्ञानं फलं क्रमेण भवति, तथैवादृष्टभगवत्कानां श्रद्धालूनां भगवत्स्वरूपादौ श्रद्धापूर्वकः सेवादिव्यवहारः, अक्षरे च ज्ञानिमोक्षादाधिक्येन भगवद्भामत्वस्य परोक्षज्ञानं भवतीत्यर्थः सम्पद्यते. ननु “आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्त” इति द्वितीयस्कन्धवाक्ये एकस्यैवाधिभौतिकाभिमानेन तन्नियमनेन च यथायथमाध्यात्मिकत्वमाधिदैविकत्वं च सिद्धम्, न तु तयोः स्वरूपभेद इति कथमयं दृष्टान्त उपपद्यत इत्यत आहुः मूले तत्रापीत्यादि. तत्रापि आधिदैविकदृष्टान्तविचारेपि, एतद्वक्ष्यमाणं, इहास्मत्सिद्धान्ते, उच्यत इत्यर्थः। एवं प्रतिज्ञाय तदाहुः जगदित्यादि. तदेतद्विवृण्वन्ति त्रिविधमित्यादिना. त्रिगुणात्मकमिति. “आसीज्ज्ञानमयोह्यर्थ” इत्यादिदशस्कन्धीयचतुर्विंशे पञ्चमे सन्दर्भे भगवत्कार्यत्वेन सिद्धाः “सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय” इत्यत्र द्वितीयस्कन्धवाक्यसुबोधिनां सच्चिदानन्दमूलत्वेन ये व्याख्याताः सत्त्वादयो गुणास्तदात्मकम्। तत्र गमकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटमिति.

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति. तत्राप्येतद्विहोच्यत इति. तत्रापि साधर्म्येपि. एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्तगङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः। जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये. क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति.

तेन तत्तदुपनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः। ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव। ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः। सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः। अथवा. भक्तानां

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

“तत्र सत्त्वं निर्मलत्वा”दिति गीतोक्तलक्षणको यो बन्धत्स्वभावो गुणानां, तेन स्वभावेन प्रकटम्। मूले प्रोक्तमिति. भगवच्छास्त्रे, ब्रह्मसूत्रभाष्ये च. तेन हेतुना तत्तदुपनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवता सर्वान्तर्यामिणा सर्वनियामकत्वेन कृताः। ततः तस्माज्जगत्त्रिविध्यादेव हेतोः देवतारूपवदाधिदैविकत्वेन कूर्मादौ “लीलया परमेश्वरा” इत्येवं प्रोक्ताः। वस्तुतस्तु भगवानेक एव नियामक इत्यर्थः। तथा च तेषां गुणाभिमानित्वे “गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्। वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचर” मित्युक्तं कालभयम्। गुणावताराणां तु त्रिविधेषु पुराणेषु प्रकृतिपुरुषनियामकतया प्रसिद्धानां न तत्। ते गुणाभिमानितो भिन्ना एव. अतो यथा “द्वा सुपर्णा” इत्यादौ जीवान्तर्यामिणोः क्वचिद्भेदः, क्वचिच्च “तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभव”दिति प्रविष्टस्यैव कार्यभेदेन जीवान्तर्यामिणोः क्वचिद्भेदः, क्वचिच्च “तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभव”दिति प्रविष्टस्यैव कार्यभेदेन जीवान्तर्यामिभाव इति कल्पभेदेनोभयम् तथा च यस्मिन्पक्षे भेदस्तं पक्षमादाय दृष्टान्त उपपद्यत इति भावः। एवं दृष्टान्तं व्याकृत्य ब्रह्मणीत्थं हरिर्मत इति दार्ष्टान्तिकं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मैकेत्यादि. तथाच मुण्डके पुरुषाक्षरयोः परापरभावस्य श्रौतत्वादक्षरनियामकत्वं मूलपुरुषे सिद्धम्, तस्य कृष्णत्वं च तापनीये, अतस्तथेति. तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव मतो युक्त्यानुचिन्तित इत्यर्थः। नन्वेवं सति देव्या यथा रूपद्वयनियामकतामात्रम्, न तु भक्तं प्रति स्वतः किञ्चित् फलम् तथा कृष्णाद्भगवतोऽपीति तत्सेवा कुत उपदिष्टेति शङ्कोत्तिष्ठति, तन्निवृत्त्यर्थमाहुः मूले कामचार इति. तुः उक्तशङ्कानिरासे. अस्मिन् लोके त्रिविधे जगति, ब्रह्मादिभ्योऽधिष्ठातृभ्यः, कामचारः काम इच्छा उपासकादीनां तेन चारः चरणम्, “चर गतिभक्षणयोः”, तत्तल्लोकविषयिणी प्राप्तिर्भोगो वा. न चान्यथा. च पुनः, अन्यथा ब्रह्मादिभ्यो विना, न तत्कामविरुद्धप्रकारेण च न, किन्तु तदिच्छाप्रकारेणैव. यथा भवतीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रकरणबलादध्याहार्यम्। तु पुनः। तथा स्वात्मनीति तादर्थ्यं सप्तमी, “चर्मणि द्वीपिनं हन्ती”त्यादिवत्। तथा च स्वस्य भक्तस्यात्मविषयेऽर्थे। परमानन्दरूपे नित्यनिरवधिसुखरूपे. भूमि कृष्ण एव, न तु लोकादौ कृष्णात् निश्चयरूपकामचार इत्यर्थः। तदेतद्व्याकुर्वन्ति ये त्वित्यादि. अत्र निश्चयपदं कामचारपदेन विवृतम्। तेन यौगिकं तदिति बोधितम्। तथा च निष्क्रान्तश्चयात् निश्चयः। चयो हि बहूनामेकीकरणम्। तेन बहूनां कामानामेकीकरणरूपाच्चयान्निष्क्रान्तः। परमानन्दकृष्णैकनिष्ठतया तदेकविषयकः कामचार इत्यर्थः सिध्यति. “रूढिर्योगमपहरती”त्यरुच्या निश्चयपदं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि. अस्मिन्पक्षे स्वात्मनीति कृष्णपदविशेषणम्। निश्चयपदमेककोटिकत्वाच्छङ्काविरुद्धज्ञानार्थकम्। तद्विषयत्वेन

स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वाशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः।॥११॥

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति.

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।

गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति॥१३॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा-तथा॥१४॥

अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।

लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥

क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः। जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वम्-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

कामचारोन्वेति. तत्प्रार्थन इति, कामचारप्रार्थने. तथा चैवं व्याख्यानद्वयेपि “सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः” “अत एव चानन्याधिपति”रित्युक्तीत्या भगवत एव फलं भवतीति तदर्थं युक्तस्तत्सेवोपदेश इत्यर्थः। तदेतत्सर्वमभिसन्ध्याहुर्मूले अतस्त्वित्यादि. अतस्तु उक्तप्रकारेण शङ्काया निरासात्, ब्रह्मवादेन “सर्वं ब्रह्मैवे”ति श्रीभागवतगीताब्रह्मसूत्रसिद्धेन श्रौतसिद्धान्तस्थापनेन, कृष्णे परब्रह्मण्येव, बुद्धिरन्तःकरणं, विधीयतां विशेषेण धार्यतामित्यर्थः॥११ १/२॥

एवमत्र पूर्वोक्तसाधनशेषत्वेन प्रमेयं फलं च निरूप्य येषां नैतादृशसाधनाधिकारः, तेषां कथं, का च फलसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति अथेत्यादि. अथेति, मुख्यसाधनप्रकरणोक्त्यनन्तरम्। तेनास्मिन्प्रकारे जीवस्वरूपज्ञानमावश्यकम्, न तु पूर्वोक्तप्रकारे. तत्र शरीरविशिष्टजीव एव भगवद्दासत्वज्ञानस्यैवापेक्षितत्वादिति बोधितम्। जीवस्वरूपमिति. बद्धजीवस्वरूपम्। व्याकुर्वन्ति आत्मविषय इत्यादि. तेनात्मनीति भिन्नं वाक्यमिति बोधितम्। अत्र मूले पाठद्वयम्। “ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतना” इत्येकः। “ब्रह्मरूपे ही”त्यपरः। तत्र प्रथमे तोः प्रकरणभेदकत्वमनुसन्धाय टीकायां प्रकरणभेदप्रतिज्ञा व्याख्यातेति ज्ञायते. द्वितीये तु विषयभेदादेव प्रकरणान्तरावगतिः। हिर्हेतौ, ब्रह्मरूपे ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मात्मके प्रकृतत्वादात्मनि चेतनाः बुद्ध्यः, “प्रतिपत्तज्ञप्तिचेतना” इति

१. ब्रह्मरूपे साकारब्रह्मस्वरूपे चेतना बुद्धिर्वोक्ते ब्रह्मस्वरूपे अविद्यांशभूताभिः बुद्धिरिव भेदप्रतीतिः। पुरञ्जनोपाख्याने “बुद्धिं तु प्रमदां विद्यात् ममाहमिति यत्कृत”मिति वाक्येन अविद्यावृत्तिरूपाणां तासामेव ब्रह्मप्रदेशावच्छेदकत्वात्, जीवपक्षे तूत्पत्त्या विचारे ‘बहु स्या’मिति इच्छैव करणादंशांशभावमभिप्रेत्य जीवस्वरूपं (व्या) कुर्वन्ति” इति “ब्रह्मरूपे जीवा ही”त्यत्र पाठान्तरम्।

विद्ययान्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारमापद्यन्ते. इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम्। अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः। व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्रा इव

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

कोशात् ताः जीवानां संसारित्वापादकोपाधिभूता इति शेषः। पुरज्जनोपाख्याने “बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतमिति वाक्यात्। तदेतद्वीकायां विशदीकुर्वन्ति जीवा हीत्यादि. हिर्हेतौ। यतो हेतोः जीवाः निबन्धे “तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांश्चेतना” इत्यत्र ब्रह्मभूताः, न तु योगबलेनाविर्भाविताः, अंशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः चेतनाः चित्प्रधाना इति व्याख्यातत्वात्, श्रुतौ च बुद्धेर्गुणनाङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्त्वाग्रे “आत्मगुणेन चैव” “आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट” इत्यादिकथनात् “ममैवांशो जीवलोकः” “एकस्यैव ममांशस्य” त्यादिस्मृतेरंशो नानाव्यपदेशादिति सूत्राच्चांशत्वेन सिद्धाः। “उत्क्रान्त्यादि” सूत्रैरणुत्वस्य साधनाच्चाणवोऽणुपरिमाणाः, अक्षरात्मकाः। एवं जीवस्वरूपमुक्तम्। अतः परं तेषां मोक्षं वक्तुं ब्रह्मरूपे छिद्रा व्योम्नीवेति यद्ब्रह्मत्वमुक्तं तच्च्युत्पादयन्ति तदात्मकत्वमित्यादि. तदात्मकत्वं ब्रह्मात्मकत्वम्। अविद्यया “एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते. बन्धोस्याविद्ययानादि”रिति भगवद्वाक्ये बन्धकत्वेनोक्त्या ब्रह्मशक्त्या, “न तं विदाथे”तिश्रुतावज्ञानजनकतयान्तरशब्देनोक्तत्वादन्तरायभूतया स्वात्मानं ब्रह्मात्मकं न विदन्ति, तेन संसार “महं ममे”त्यभिमानरूपमापद्यन्ते. इदं संसारापादकत्वमेव तस्या अविद्याया उपाधिरूपत्वम्। प्रयोजको ह्युपाधिरित्युच्यते. अतः संसारप्रयोजकत्वमेव तथात्वम्। तु पुनस्तत्कृतं जीवत्वम् न, तथा दोषरूपया, आभासनेन वा, तस्यां प्रतिबिम्बेन वा, तयाऽवच्छेदकेन वा प्रयुक्तं जीवत्वं न, आभासप्रतिबिम्बपक्षे तत्स्वरूपस्याब्रह्मत्वप्रसङ्गात्। अवच्छेदनस्यापि अंशत्वकथनोत्तरं बन्धस्मरणेन व्युच्चरणोत्तरभावित्वनिश्चयात्। “तद्वज्जीवो नभोपम” इति श्रौतोपमाया अपि “घटो लीयेत नाकाश”मित्यनन्तरमुक्ततया लयाभावमात्र एव पर्यवसितत्वस्य अग्रिममन्त्रे जलचन्द्रदृष्टान्तेन तस्य चांशप्रवेशप्रयुक्तत्वेनापि निश्चयादित्यर्थः। तर्हि व्योमछिद्रदृष्टान्तः किमित्युक्त इत्याकाङ्क्षायां तदेतद्वोधयितुं दृष्टान्तं इत्याहुः अणुत्वेत्यादि. नन्वणुत्वं चेद्वोधनीयं स्यात्, “विस्फुलिङ्गा” इवेत्युक्तं स्यात्, नत्वेवमित्यत उपपादयन्ति व्योम्नीत्यादि उपाधिभिरिति तितउप्रभृतिभिः। छिद्रा इवेति. “छिद्रं भेदन” इति धातोर्भावे घञि, “छिद्रि द्वैधीकरण” इत्यतो धातोर्वा “स्फायी”ति रकि कृते छिद्रपदं रन्ध्रवाचकं सिध्यति. तदत्र नाभिप्रेतम्। किन्तु पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणे”त्यत्र प्रायोग्रहणात्, संज्ञाभावेपि छिद्यतेऽनेनेति योगाच्छिद्रकरणवाचकमभिप्रेतम्। अथवा “छेदनं छिदि”ति सम्पदादिकवपि “आतोनुपसर्गे क” इति कं च कृत्वा छिदं रान्ति ददतीति छिद्रा इत्येवं द्वैधीकरणदायिवाचकमभिप्रेतम्। तथा च व्योम्याकाशे तितउप्रभृतिभिराकाशात् क्षुद्ररूपाधिभिरवकाशभेदप्रयोजकैः छिद्रा इव रन्ध्राणीव भेददायकाः क्षुद्रत्वादयोऽवास्तवाः प्रतीयन्ते तथा ब्रह्मरूपे सुवर्णशकलबद्धह्यात्मके आत्मनि जीवे अविद्यांशभूतैरन्यथाबुद्धिमिश्रचेतनाख्यैः

प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते. न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च. तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरुपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधेरब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकाशेण पश्यतीत्यर्थः। तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवति न तदतिरिक्तमपेक्षते. भजनोपयोग्यार्थपेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति. एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः। यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरुपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्यापुरुषोत्तमाविर्भाववान्, स तु गङ्गातो दुस्स्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्धार्थपेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाभभवतीत्यर्थः। तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः। अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलप्यतीति ज्ञेयम्।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

क्षुद्रत्वदुःखित्वात्यन्तभिन्नत्वादयोप्यवास्तवाः प्रतीयन्ते. न तु ब्रह्मधर्माः असङ्गत्वादय इति बोधनार्थं चायं दृष्टान्तः। तथा च यदि स दृष्टान्त उक्तः स्यात्, तदोपाधिकृतो बन्धो न बोधयितुं शक्येत, अतस्तथेत्यर्थः। एतेन तद्वोधितमगुणत्वमपि क्षुद्रत्वादिवद्देहपरिच्छिन्नत्वरूपमेव, न तु वास्तवमिति ज्ञापितम्। वास्तवस्य तस्य व्यापत्वाविरोधित्वात्। एवं बन्धं व्याख्याय मोक्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमं उपाधिनाश इत्यादिकं सार्धश्लोकं व्याकुर्वन्ति तेषां मध्य इत्यादि. पश्यतीत्यर्थ इत्यन्तम्। अविद्यालक्षणोपाधेरिति. इदं जीवविशेषणम्। अविद्यालक्षणः स्वस्वरूपविस्मारक उपाधिर्यस्येति. शेषं स्फुटम्। दृष्टान्तोक्तिप्रयोजनमाहुः तस्येत्यादि. अग्रिमश्लोके जघन्याधिकारिणो दुःखभावकत्वकथनात्तत् उत्तमस्य मर्यादाभक्तस्य ज्ञानपूर्वकं भजतो दुःखाभाव आर्थिकोऽत्र व्याख्यातो ज्ञेयः। जघन्याधिकारिव्यवस्थां वदन्तीत्याशयेन संसारीति श्लोकं व्याकुर्वन्ति यस्त्वित्यादि, भवतीत्यर्थ इत्यन्तम्। तर्हि तादृशस्य किं फलं स्यादित्याकाङ्क्षायां “उभयोस्तुक्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती”त्यग्रिमग्रन्थानुसन्धानेन फलमाहुः तथापीत्यादि, ज्ञेयमित्यन्तम्। अङ्गीकारादिति. सेवाया अङ्गीकारात्। अनङ्गीकारे त्विति. प्रभुणा तत्कृतसेवाया अनङ्गीकारे. अग्रिमं व्याकुर्वन्तस्तत्र तस्मात्पदोक्तस्य हेतोः (यस्मान्मष्टोपाधिर्ज्ञानी स्वस्मिन्भगवन्तं प्रकर्षेण पश्यति, यस्माच्च संसारी तादृशान्तःकरणस्याभावादुःखी भवतीति) पूर्वश्लोकद्वयार्थसङ्ग्राहकतया प्रकटार्थत्वाद्यत्रास्फुटोर्थस्तदेव पदं व्याकुर्वन्ति श्रीकृष्णेत्यादि, भगवत्परमित्यन्तम्। मन्मतिरिति. “रामेण सार्धं मथुरां प्रणीत” इत्यादिभगवद्वाक्येन स्वानुभवेन च तथा निश्चयान्मन्मतिः भगवत्परमिति.

१. () चिह्नान्तर्गतं नास्ति प्रायः।

आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति. श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्याननन्देषु विहरन्तमित्यर्थः। ते तु ब्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव. अत आत्मपदं भगवत्परम्॥१३-१४-१५-१६॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः। उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति.

ज्ञानभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

स्वप्रतिष्ठस्यैव फलताया भूमविद्यायां सिद्धत्वात्तथाविधतत्परम्। एवमनेनोपदेशवाक्यं व्याख्यातम्।

लोकार्थीति श्लोकस्तु संसारमध्येऽपि यो जघन्याधिकारी तत्पर इत्युपेक्षितः, परं तत्रायमर्थः। लाभपूजार्थयत्नस्योपधर्मत्वदेवलकत्वादि

सम्पादकत्वात्तद्व्यतिरिक्तेनानिषिद्धप्रकारेण “ऐहिकं मे भवत्विति”त्यनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी, तादृशश्चेत्कृष्णं भजेत्, तदा सर्वथा क्लिष्टो भवति, भगवत्प्रियाचार्यमार्गस्थत्वेन तदुपरि कृपया “यस्मानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनै”रिति न्यायेन वा, तन्मौढ्येन दुराग्रहादिना भगवदुपेक्षायां दृष्टादृष्टाभ्यां वा सर्वैः प्रकारैर्लोकत एव क्लेशं प्राप्नोति. तत्राद्यस्तु क्लिष्टोऽपि लोकाद्विरज्य चेत् भवेत् कृष्णम्, तदोक्तन्यायेनैव सर्वप्रकारैर्लोको बाह्य आन्तरश्च नश्यति, ततो “मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रह”मिति न्यायेनेह परत्र वा प्रतिबन्धरहितानुग्रहविषयो भवतीति. अन्त्यस्तु दुराग्रहादिदोषेण तत्सेवायाः प्रभुणा अनङ्गीकारेपि आचार्यदयया “नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्ण” इत्युक्तन्यायेन तत्कृतस्य स्वगामित्वेन भजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे अनुग्रहविषयो भवतीति.

अत्रैवं मम प्रतिभाति. संसारीत्यस्य व्याख्याने तथापीत्यादिज्ञेयमित्यन्तेन यदुक्तं तदस्यैव श्लोकस्यार्थ इति. तेन संसारी त्रिविधः। संसारनिवृत्तिकामो भक्त एकः। लोकार्थी सेवाग्रही द्वितीयः। सेवानाग्रही तृतीयः। तेषां त्रयाणां तत्फलमुक्तमिति॥१६॥

एवमत्र जघन्याधिकारिव्यवस्थामुक्त्वा मध्यमाधिकारिणो ज्ञानं सहकारित्वादावश्यकमिति तदभावे तस्य कथं फलमित्याकाङ्क्षायां तस्य फलार्थं प्रकारमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति स्वस्वरूपेत्यादि. मूलार्थस्तु स्वस्वरूपभगवत्स्वरूपयोर्ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी श्रीभागवतत्परः सन् पूजोत्सवादिषु, एकादशे ऊनत्रिंशेध्याये “यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत्तन्मे ब्रूहञ्जसाऽच्युते”ति प्रश्ने, ये भगवता “हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्। यान् श्रद्धयाचरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जय”मित्युक्त्वा, “कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनैः स्मर”न्नित्यादिना भगवद्धर्मा उक्तास्तेषु तिष्ठेत्। यद्यपि तत्र पूर्वमन्येष्युक्ताः, तथापि तेष्वशक्तौ “पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवा”नित्यादिनोक्तेषु,

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति. तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा. तस्य विधिर्न नियामक इति भावः। मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति. यदि मर्यादायामेवाङ्कीकारः, तदोभयोर्मक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः। एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानादिक इति. लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं तस्य मुक्तिरेवेपि सर्वे वदन्ति. तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्। ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च. एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

पूजायां च “श्रद्धामृतकथायां म” इत्यत्रोक्तायां तिष्ठेत्। मर्यादास्थो मर्यादामार्गीयस्तु गङ्गायां भगवच्चरणसंसर्गवत्यां परीक्षितो विदुरस्य च सिद्धिर्जातेति तत्र श्रीभागवतत्परस्तिष्ठेत्। तथा सति तस्य-तस्य तत्तदुपयोगिज्ञानात्मकसहकारिसम्पत्तिर्भवतीति ज्ञेयम्। ननु तथा मर्यादामार्गीयस्य गङ्गायामिति सामीप्यसप्तम्या स्थितिदेश उक्तः तथा पुष्टिमार्गीणो नोक्त इति स कुत्र तिष्ठेदित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाहुः पुष्टित्यादि. व्याख्याने तु स्फुटार्थम्। ननु भवत्वेवम्, तथापि तयोः किं फलमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति मर्यादास्थावित्यादि. आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्येत्यनेन मूलस्थस्य क्रमेणेति पदस्यार्थो बोधितः। प्राप्नुत इति द्विवचनम्। तथाच पुष्टिमार्गेऽङ्गीकारे क्रमेण “चेतस्तत्प्रवण”मित्युक्तमानसीसिद्धौ तस्या यत्फलं तदेव फलम्, यदि मर्यादायामङ्गीकारः, तदा “भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग”मिति वाक्याद्भगवत्सायुज्यरूपा मुक्तिरेव. “हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमर्णवीं प्रयुङ्क्त” इत्यत्रोक्ता फलिष्यति. “एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृते”रित्यत्र तथा सिद्धत्वादित्याशय इत्यर्थः। ननु साधनसम्पत्तावनुग्रहाद्भक्तिरेव भवतीति यदुक्तं, तत्र किं बीजमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवमित्यादि. तात्पर्यमिति. श्रुतिसूत्रादितात्पर्यम्। मूलार्थस्तु. एवं पुरुषोत्तमप्रापकतया भक्तिमार्गो ज्ञानाधिकः ज्ञानमार्गादुत्कृष्टस्तस्मात् गङ्गादृष्टान्तेन नितरां व्युत्पादनपूर्वकं निरूपितः कथित इति. तदेतद्व्याकुर्वन्ति लोकेऽधुनेत्यादि. ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमिति. ब्रह्मणः स्वात्मनश्च तादात्म्यरूपैक्यज्ञानम्। सर्वज्ञानमिति प्रपञ्चज्ञानम्। एतावतापीति. स्वात्मनः प्रपञ्चस्य च ब्रह्मात्मकत्वज्ञानेनापि. एवं ज्ञानेपि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्य दूरत्वे

दूरतरः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये. गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्। न हि भक्त्या देवताद्रष्टुमः पूर्वो भवति. अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति “यो मामेवमसम्मूढ” इत्युपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेने”ति प्रभुरुक्तवान्। अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम्। ऋग्वेदेपि पठ्यते “तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन. आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे”. हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः। ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्। स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा. जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तनं पूरित्युक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवास्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति. तेन

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

मानमाहुः अत एवेत्यादि. तथा च यद्यक्षराहङ्ग्रहोपासनतः “सर्वं ब्रह्मे”त्युपासनतश्च भक्तेस्तन्मार्गीयोपासनायाः स्वविषयकाया आधिक्यं न स्यात्, तदा भगवान् “मध्यावेश्य मन” इत्यारभ्य स्वोपासकस्य युक्ततमत्वम्, अक्षरोपासकस्य क्लेशम्, सर्वसन्न्यास पूर्वकं ये स्वपरास्तेषां शीघ्रं संसारादुद्धारम्, स्वस्मिन्मनोनिवेशनादिना तेषां स्वस्मिन्निवासम्, तदनुकल्पकथनेन तस्यैवावश्यकत्वं च न वेदेत्, अतस्तथेत्यर्थः। एतेन ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवमिति व्युत्पादितम्। तस्मान्निरूपित इति विवृण्वन्ति गङ्गायामित्यादि. अग्रिमं स्पष्टम्। अस्मिन्नर्थे श्रुतिमपि प्रमाणत्वेन वदन्ति व्याकुर्वन्ति च. ऋग्वेदेपीत्यादि, हे स्तोतार इत्यादि च. गर्भरूपमिति. तस्मिन्नर्थरूपतयान्तःस्थितम्। तत्र हेतुः स्वोदरस्थमित्यादि. उपदिष्टवानिति. स्वज्ञापकतया बोधितवान् एतदुपबृंहितमेकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये “कालेन नेष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ते”ति. एकविंशे च “मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्। एतवान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा. मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदती”ति शेषमतिरोहितार्थम्। एवमत्र मुख्यमध्यमजघन्यातिजघन्याधिकारिकृतसाधनस्य फलपर्यन्तव्यवस्थाकथनेन स्वतन्त्रभक्तिमार्गस्यैवोत्कर्षो व्युत्पादितः। तेन स एव मुख्यः, इतराणि त्वनुकल्परूपाणि जघन्यार्थानि. तत्रापि निष्कपटा तनुवित्तजसेवैव सुगमं साधनमिति साधितम्।

अतःपरं तनुवित्तजाया यथाकथञ्चित्करणे यदि भक्तिर्न भवति, स्फुटमेव

ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते. भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्जानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु. अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु. एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम्। चिदिति. चिदित्युपलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः। नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि. ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे. स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति. तेजोरूपमित्यर्थः। स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति. एवमेव ‘तद्विष्णोः’ ‘तद्विप्रास’ इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठुक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति॥१७-१८-१९॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति.

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।

अन्यथा भावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।

एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः। एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति॥२०-२१॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत्।

श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ॥१॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

तदा तस्याः किं फलमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति गङ्गेत्यादि. व्याकुर्वन्ति भगवदित्यादि. तथा भवतीति. दुष्टैर्निजकर्मभिः पाषण्डितामापन्नः सन्। “अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथे”ति श्लोकद्वयोक्तरीत्या आरूढपतितो भवतीत्यर्थः। एतच्छ्लोकोक्तितात्पर्यमाहुः एतेनेत्यादि. तथा च भक्त्यभावे सर्वं व्यर्थमिति बोधनार्थमेतदुक्तिरित्यर्थः। उपसंहारश्लोकस्तु प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्यातः। परं तदारम्भस्थ एवंशब्दस्त्वतिदेशपरत्वेन बोधित इति स देहलीदीपवदुभयत्राप्यन्वेतीति बोध्यम्। एवं सर्वं ग्रन्थं विवृत्योपसंहरन्ति इतिश्रीत्यादिश्लोकेन. अत्र हृदये दधाविति कथनेन स्वयमेव सम्यग्विचारिता, नत्वनधिकारिणः प्रति स्पष्टीकृत्येति बोधितम्।

१. अदलितनलिनीदलैव वापी यदहतपल्लव एव काननान्तः।

प्रियसखि न जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः॥२॥

इत्यधिकं पद्यं क्वचित्।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

अत्रेदं सिद्धम्। (यस्य भगवति कृष्णे परब्रह्मत्वेन ज्ञानं भगवदनुग्रहेण दृढम् तथा विश्वासो भक्तिश्च स्वतःसिद्धा, तस्य) अस्मिन् शास्त्रे तनुवित्तजा सेवैव प्रथमं साधनम्। सा चेन्निबन्धोक्तप्रकारिका भवति, तदा लौकिकविषयवैराग्यादिना संसारदुःखं निवर्तयन्ती भगवदधिष्ठानत्वेनाक्षरं बोधयन्ती “चेतस्तत्प्रवणं सेवे”त्युक्तसर्वात्मभावरूपां मानसीं साधयति. तस्याः सम्पत्तौ च बहिर्भगवत्प्राकट्ये भगवदेकतानतातः कामचारो भवति (नान्यथा. अतः साधनसेवां कुर्वता ब्रह्मवादेन भगवति बुद्धिर्विधेयेति मुख्या आद्यसाधनकक्षा)। एषैव निबन्धे “ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर” इति सावतारणिकया कारिकायोक्ता. तस्यां च स्वस्य सेवकत्वेन ज्ञानमेवोपयोगीति च. अत्रानधिकारे तु मर्यादापुष्टस्य विविक्तं जीवस्वरूपज्ञानमावश्यकम्। तस्मिन् सति शुद्धस्य स्वात्मनोऽक्षरब्रह्मात्मकत्वे स्वस्मिन्नन्तरेव भक्त्या कृष्णं पश्यति. तेनाग्रे पुरुषोत्तमसायज्यमिति मध्यमा साधनकक्षा. तेन तादृशा सेवां कुर्वता जीवभगवत्स्वरूपयोर्ज्ञानार्थं पूर्वं यतनीयम्। यस्यात्राप्यनधिकारः, स संसारी स्वशरीरपुत्रवित्तादिष्वभिमानवान्। स तु सेवां कुर्वन् भगवदुपयोगिपदार्थालाभेन दुःखभागभवति. तेन सम्यक्सेवानिर्वाहो न भवतीति तेन संसारासक्तिनिवारणार्थं स्वप्रतिष्ठस्य लीलाविशिष्टस्य भगवतश्चिन्तनं विशेषेण कार्यमिति तृतीया गघन्या कक्षा. यस्य पुनः संसारिणो लोकार्थिता न निवर्तते, स चेद्भगवत्सेवां यथोक्तप्रकारेण तनुवित्ताभ्यां करोति, तस्य परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुकृतेन विलम्बेन संसारविषयाल्लोकादेव क्लेशो भवति, तथापि चेत्सेवां न त्यजति, तदा आसक्तिविषयो लोको नश्यति. तादृगधिकारी चेत्पुष्टिमार्गीयः, तदा तेन श्रीभागवतपाठश्रवणपरतया स्थित्वा यत्र कुत्रचिद्देशविशेषे पूजोत्सवादिकं कर्तव्यम्। मर्यादामार्गीयश्चेत्, गङ्गातीरे स्थित्वा तेन श्रीभागवतश्रवणपठनावृत्तिर्यथाधिकारं कर्तव्येति चतुर्थी कक्षा. तयोरुभयोरपि यथाधिकारं स्वल्पेन महता वा क्रमेण तत्प्रवणं चेतश्चेत् यथाधिकारं सिध्यति. तस्य वैकुण्ठादिषु सेवोपयिकदेहप्राप्तिः फलति, न तु सायुज्यम्। यस्य तु तन्वादिभिः सेवाकरणे भक्तिरपि न भवति, स तु पञ्चमः आरूढपतितो जन्म प्राप्नुवन् संसाराभिनिवेशशैथिल्ये बहुजन्मभिर्मुच्यते. संसारात्यन्ताभिनिवेशे तु मुक्तिरपि न भवतीति. तस्मात्संसारवेशं त्यजता भक्त्यर्थं तनुवित्तजसेवायां पूर्वं यतनीयमिति. (तत्रायं प्रकारः। तन्वादिभिः सेवां कुर्वतोऽधिकारभूतमात्मनिवेदनमावश्यकम्। तत्कृत्वा सेवाकरणे पूर्वदोषनिवृत्तिः, अग्रिमदोषासंसर्गश्च. सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या असमर्पितवर्जनादिरूपं बहिरङ्गं साधनं सम्पत्ताववश्यं करणीयम्। आपत्तौ तु नवरत्नोक्तरीत्या करणीयम्। भगवदपराधे

१. इति मुख्यादिकारिणः फलपर्यन्ताः कक्षाः। यस्य तु न तादृशोधिकारः, तेन तु भगवति परब्रह्मत्वज्ञानाद्यर्थं साधनसेवां कुर्वता ब्रह्मवादेन भगवति बुद्धिर्विधेया. अतः पूर्वोक्तरीत्या सैव कार्येति ततः किञ्चिन्न्यूना साधनकक्षेति पाठान्तरं भाति.

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

जाते त्वन्तःकरणप्रबोधोक्तरीत्या भावनीयम्। विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्या विवेकादिरपि सम्पादनीयः। ततो विश्वासे दृढे सति भक्तिवर्धिन्युक्तरीत्या भक्तिबीजस्य दाढ्यं सम्पादनीयम्। अदृढबीजभावे तु निबन्धोक्तरीतिकपूजा परिचर्यादिभिः, नामावलीपाठेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि सम्पादनीयानि. ततो व्यसनदाढ्यं सिद्धे प्रेम्णि दृढे जाते च सन्न्यासनिर्णयोक्तरीत्या त्यागो विधेयः। तत्रानधिकारे तत्र प्रतिबन्धे वा भक्तिवर्धिन्युक्ता अनुकल्पा विधेयाः। ततो भगवत्प्रसादे निरोधलक्षणोक्तरीत्या निरोधोत्कर्षसिद्धिः। ततः फलसिद्धिरिति तच्चरणदासैर्विभावनीयम्। अन्येपि ग्रन्था अत्रैव शेषत्वेन यथासम्भवं योजनीया इति दिक्)।

इति श्रीप्रभुपादाब्जैः प्रसादप्रेमणादिह।

स्वीयसिद्धान्तवाङ्माला कृपया सम्प्रकाशिता॥१॥

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणैकतानस्य श्रीविट्ठलेशप्रसादप्राप्तदृशः पीताम्बरात्म जस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ श्रीमदाचार्यसिद्धान्तवाङ्मालाप्रकाशः सम्पूर्णः।

श्रीकृष्णाय नमः।
सिद्धान्तमुक्तावली।
 श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवृत्तिसमेता।

प्रणम्यपितृपादाब्जपरागमनुरागतः। कृपयाविशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम्॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥

स्वसिद्धान्तेति. अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

नुमो नतहरीन् स्वीयसिद्धान्तस्य विवक्षया।

ततो नुमो विशदिततद्वाङ्मुक्ताफलावलीन्॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः। प्रणम्येति. अत्र नमने प्रकर्षो भक्तिमार्गीयत्वम्, तच्च ससुव्यत्वज्ञानपूर्वकत्वे सति भक्तिकरणकत्वम्, तदेव भक्तिमार्गीयतावच्छेदकद्वयं प्रकटयन्ति पितृपादाब्जेति. पितृपदं भक्त्यनपेक्षपुत्रवात्सल्यबोधकम्। हृदयविष्टस्य घनीभूतानन्दरूपपादपद्मस्य परागस्तस्मात् स्नुत आनन्दः। भगवच्चरविन्दे हृदये समागते य आनन्दोऽनुभूयते तत्स्वरूप इत्यर्थः। तथा च पितृपादाब्जपरागमित्यनेन सुसेव्यत्वज्ञानरूपमवच्छेदकमुक्तम्। अनुरागत इत्यनेन भक्तिरूपं द्वितीयमवच्छेदकमुक्तम्। एतादृशनमनाभिव्यञ्जितपदार्थमाहुः कृपयेति. भगवद्भूमाणां नित्यवादिभिव्यक्तेरेवाङ्गीकारात् कृपायास्तथात्वमिति मन्तव्यम्। अत एवासाधारणकरणतया तदुक्तिः। तादृशानमनोपकार सिद्धां क्रियामाहुः विशदीकुर्म इति. वैशद्यं स्फुटीभावः। कृपाया ग्रन्थवैशद्यकरणत्वकथनेन स्वपितृचरणानां वागधिपतित्वमप्युक्तम्, तत्कृपाया एव तथा करणसामर्थ्यात्। किमित्याकाङ्क्षायामाहुः तदिति. तद्वाङ्मिष्टमुक्ताफलरूपार्थराशिमित्यर्थः। मुक्ताफलपदस्य कल्पनावृत्त्यर्थबोधकत्वम्। सादृश्यं च नैर्मल्यसामान्यधर्मेण. नैर्मल्यं चात्र प्रोज्झतकैतवत्वम्। वाच एव मुक्ताफलानीत्ययं पक्षस्तु अत्रार्थस्यैव स्फुटभावं प्राप्तत्वादसम्भवग्रस्तः। वाग्वैशद्यं तु व्याकृतावुच्चारणे चैव प्रसिद्धम्। मूले स्वसिद्धान्तेति. स्वसिद्धान्तस्य अयमेव शास्त्रार्थ इति विशेषेण निश्चयो यस्मात् तं ग्रन्थमित्यर्थः। इदं च प्रतिज्ञावाक्यम्। महावाक्यमाहुः कृष्णसेवेत्यादि. टीकायां अग्र इति. अस्मिन्नेव ग्रन्थे “मायिकं सगुणं कार्य”मित्यादिभिर्वक्ष्यमाणैः। शास्त्रार्थस्य गीताभागवतार्थस्य.

१. विनिश्चितमिति पाठः

तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थं निश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः। तमेवाहुः कृष्णसेवेति. फलात्मकनामोक्ता स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः। तदुक्तया जीवनामेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्। अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति. आवश्यकार्थण्यत्प्रत्यान्तकार्यपदोक्तया तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते. सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः। यथा ब्रजसीमन्तिनीनाम्। तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं “ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद” मित्यादिना॥१॥

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति.

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका.

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

तन्निरासाय शास्त्रार्थसन्देहनिरासाय. सन्देहस्वरूपं तु स्वयमेवाग्रे वक्ष्यन्ति स्वेति. एतन्निरूपकशास्त्रार्थस्य निश्चयो यस्मात्तमित्यर्थः। फलात्मकेति. फलरूपस्य तस्य स्वतः पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः। फलसेवनं हि स्वतः पुरुषार्थं, यथा कामिन्याः। स्वतःपुरुषार्थत्वेन. कामप्रयत्नयोरेकविषयत्वेनेत्यर्थः। ननु “मानसी सा परे”त्यनेन मानस्याः सेवायाः फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवायाः सिध्यति, अतो न स्वतः पुरुषार्थत्वम्, किन्त्वन्यशेषत्वमेवेति चेत्, तत्राहुः नत्वन्येतियत्र विजातीयफलार्थत्वं तत्रैवान्यशेषत्वम्, प्रकृते तस्या एव सेवाया अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाददोष इति भावः। हेतुपूर्वकं सदेत्यस्यार्थमाहुः सेवा हीति. सहजेत्यत्र जननं सत्तेति ज्ञेयम्। जीवस्य नित्यत्वेन जननासम्भवात्। तथा च सहसत्ताकमित्यर्थः। यथा जीवसत्ता सार्वदिकी तथा दासत्वसत्तापि. अत एव जीवस्य सहजदासत्वेन अत्र सेवायां सहजधर्मत्वादेव. कर्मणीवेति. कर्म न सहजधर्मः, तस्यैव जन्मान्तरे शूद्रदेहेऽनधिकारादिति भावः। कालपरिच्छेदोऽस्मिन् काले न कर्तव्येतिरूपः। कालपरिच्छेद्यनत्वाभावेपि प्रत्यवायजनकीभूताभावप्रतियोगित्वस्वरूपधर्मोस्तीत्याहुः आवश्यकार्थेति. सा चेति. सा पूर्वोक्ता. तत्र फलसाधनरूपयोर्मध्ये फलरूपा मानसी सेवा. यथेति. यथा यत्प्रकारिका सेवा ब्रजसीमन्तिनीनां सिद्धा, सा मानसी फलरूपा सेवेति शेषः। तदेव मानससेवायाः फलरूपत्वमेव. ‘ता’ इति, “मय्यनुषङ्गबद्धधिय” इत्यनेन साधनसेवामनूद्य ‘नाविद’ नित्यनेनान्यानुसन्धानराहित्यमुक्तम्॥१॥

एतदेव धीबन्ध एव. मूले चेतसस्तस्मिन् भगवति प्रवणं गतिरित्यर्थः। उक्तसेवेति. उक्तसेवा मानसी सेवा. इतरे तनुवित्तजे. एकेति. वित्तजेत्यर्थः।

१. काले इति पाठः।

एतादृशेन पुंसा कृता चापरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्। एतेन भगवदर्थं निरूपयितुं स्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः। एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्। भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवति इति भावः॥२॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति.

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

द्विरूपं तद्वि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

एतादृशेन. वितग्रहीत्रा पुरुषेण. अपरा तनुजा. तत्साधिके इति. फलरूपसेवासाधिके। तथा चैककर्तृक एव ते तत्साधिके इति फलितार्थः। नन्वेवमेककर्तृका भगवदपेक्षितयावद्द्रव्यसमर्पणरूपसेवा शरीरजभगवद्यावत्सेवा च भगवदपेक्षितयावद्द्रव्याभावान्तादृशतनुसामर्थ्या

भावाच्चासम्भावितेति चेत्, तत्राहुः एतेनेति. एवं सेवाकथनेन. फलं कर्तुं । इति तयावत्स्वीयद्रव्यादिनिवेदनपूर्वकं कार्यान्तरविनियोगरहितभगवदर्थस्वदेहविनियोगे क्रमप्राप्तप्रेम्णि जाते सा मानसीसेवा भवतीत्यर्थः। क्रमस्त्वग्रे विवेच्यः। एतादृशस्येति. निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवत्सेवाविनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य. तत इतीति. उक्तसाधनरूपसेवाद्वयतः। तन्निवृत्त्येति. संसारनिवृत्त्या. अनिष्टेति. फलप्रतिबन्धकत्वात् संसारस्यानिष्टत्वम्। मूले संसारो दुःखो दुःखजनक इत्यर्थो ज्ञेयः। इष्टेति. फलसाधकत्वात् ब्रह्मज्ञानस्येष्टत्वम्। स्वात्मनीति. आत्मनि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण जीवेषु. अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानमहन्तानिवृत्तौ, प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं ममतानिवृत्ताविति विभागः। भक्तस्याक्षरज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन भवतीति तृतीयाध्याये तृतीयचरणे व्युत्पादितम्। तथा चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन ज्ञानमित्यर्थः। स्वात्मनि प्रपञ्चे च भगवदीयत्वेन ज्ञानमिति यावत्। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमनुपदमेव विवेक्ष्यते. ननु तादृशज्ञानहेतुत्वात् सेवायाः स्वतःपुरुषार्थत्वव्याहतिरित्यत आहुः

भगवत्सेवायामिति. ते इति. उक्तब्रह्मात्मकत्वज्ञाने. वस्तुन आत्मसमर्पणस्य स्वभावात्। स्नेहो हि भक्तिः। स च दर्शनं विना भवतीति. निबन्धे निरूपितम्। अतः श्रवणं दर्शनं स्नेह इति त्रयं मिलितं एका श्रवणभक्तिर्भवति. एवं नवस्वपि. तथा च ब्रह्मबोधनस्य वक्ष्यमाणरीत्यात्मनि वेदनाङ्गदर्शनयोग्यतासम्पादकत्वात् तत्स्वभावादेव ते ज्ञाने भवत इत्यर्थः। अनभिलषिते सेवाभिनिवेशेनैव सेवा क्रियते, न त्वेतत्फलाभिनिवेशेनत्यर्थः।

इदमेवेति. इदं पूर्वोक्तज्ञानविषयमक्षरं ब्रह्म. अत्रेति. अक्षरे ब्रह्मणि. रूप

सच्चिदिति. एते हि भगवद्भ्रमात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकक्षरं ब्रह्म. अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते. एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौः जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति. कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते. कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति. तत् अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति. प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः। एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः। न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः। उभयोर्धर्मयोरैकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्। विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि “तदेजति तन्नैजती” त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात्। लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि. इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्चयते॥३॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति.

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

धर्मः। ननु सच्चिदानन्दकत्वस्य पुरुषोत्तमेपि सत्त्वात् कथं तस्य भेदकत्वं तत्राहुः एते हीति. सच्चिदानन्दाः। तत्रितयं सच्चिदानन्दत्रयम्। अत एव. अक्षरस्य सच्चिदानन्दात्मकत्वादेव. तदात्मक अक्षरब्रह्मात्मकः। तस्मिन् प्रपञ्चे. एतावानिति. अक्षरब्रह्मणः। सकाशात्प्रपञ्चे विशेषः। तमेवाहुः जड इति. इतरौ चिदानन्दौ। आद्यौ सच्चितौ। परमात्मनि अन्तर्यामिणि. ननु भगवद्भ्रमाणामपि “प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा”दिति न्यायेन भगवत्त्वमेवेति न भेदसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुः कप्रत्ययेनेति. कप्रत्ययस्य हीनार्थकत्वादित्यर्थः। पुरुषोत्तमवदिति. पुरुषोत्तमस्वरूपभूतमुख्याक्षरवदित्यर्थः। कृष्णेति. कृष्णशब्दस्य परब्रह्मवाचकत्वात् तत्स्वरूपं तेनैव निरूपितम्। इतीति. पुरुषोत्तमस्वरूपनिरूपणाकाङ्क्षानिवृत्तिपूर्विकाक्षरनिरूपणाकाङ्क्षारूपाद्धेतोः। एतावद्रूपकमक्षरं ब्रह्मेत्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्तीत्यर्थः। द्विरूपमितीति. अत्रैकपदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्रान्वेति. एकरूपत्वेनेति. प्रपञ्चरूपस्य तस्यानेकरूपत्वं तद्विन्नरूपस्यैकरूपत्वम्। श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेति. प्रपञ्चकारणत्वेन. पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिरिति. लीलाविशिष्टपुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमित्यर्थः। आदिशब्देन पादत्वादयो धर्मा ग्राह्याः। तत्रायं विवेकः। आधिभौतिकजलस्याक्षरत्वेन ज्ञाने तस्याक्षरत्वात् तत्र सेवोपयोगिलीलासृष्टिस्थपुरुषोत्तमात्मकजलाधिष्ठानत्वम्, एवमक्षरात्मके भगवदाकारादौ पुरुषोत्तमस्वरूपाधिष्ठानत्वमिति. विरुद्धेति. विरुद्धत्वेन प्रतीतिविषयैरित्यर्थः। अत्रेति. प्रपञ्चाक्षरयोः। भेदः क्रियाफलभूतो. विरोध इत्यर्थः।

विरोधेति. भिन्नधर्मत्वात् ब्रह्म कथं जगद्रूपं भवितुमर्हतीति ज्ञानेन प्रतीतो

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।

मायिकं सुगणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते. तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः। मायिकमिति हि मायावादिनः। सुगणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः। कार्यं द्वयणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः। स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः। चकारेण वेदब्राह्ममतानि सङ्गृह्यन्ते॥४॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति.

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्:

द्विरूपं चापि गङ्गावज्जेयं सा जलरूपिणी॥५॥

माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥

“स हैतावानास”, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला” नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः। एकस्वैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति. प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्जेयम्। अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम्। आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यदृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिहासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च. अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा. एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः॥५-६॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति.

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्यै॥७॥

प्रत्यक्षा सा व सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।

विहिताच्च फलान्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥

यता जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।

यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते॥९॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

भेदो विरोधः क्रियाफलरूपः तत्परिहारायेत्यर्थः।

स्वतन्त्रमिति. स्वभावत एवोत्पत्त्यादिविशिष्टम्, नतु परतः तथाभूतम्। द्विरूपत्वमिति. प्रपञ्चतद्भिन्नरूपत्वम्। एवमेवेति. यथाधिभौतिकी जलरूपा, आध्यात्मिकी तीर्थरूपाप्येकैव गङ्गा. एतत्प्रकारेणैव प्रपञ्च-प्रपञ्चभिन्न ज्ञान्युपास्यादिरूपमेकमेवाक्षरं ब्रह्म.

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा।

परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः॥११॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः। तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति. भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः। तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव. अथवा. यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः। भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति. देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवद्भेदबुद्ध्यै तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति. स्वामीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्ध्यथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः। एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावाः स्फुरतीति भावः। विहितेति. भक्त्या गङ्गादर्श-

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

उक्तद्विरूपायामिति. आधिभौतिकाध्यात्मिकरूपायाम्। सा गङ्गा. तदिति. उक्तद्विरूपातः। तत्र भेदे. उक्तद्विरूपयोर्मूर्तिमत्त्वाभावादाधिदैविकस्यैव मूर्तिमत्त्वा दित्याशयेनाहुः मूर्तिरिति. “देवतारूपा न तद्भिन्नास्ती”ति पाठे ततो भेदेन न तिष्ठति, तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः। तत्रेति. भेदेनास्थितौ तस्या एव साधिदैविकी मूर्तिरिति मानमित्यर्थः। तदपीति. दर्शनम्। क्वचिदिति. एतत्पदस्य कालवाचकत्वाशयेनाहुः भक्त्युद्रेकेति. देशवाचकत्वाशयेनाहुः गृहादिष्वपीति. प्रत्यक्षा भवतीति. यथासम्भवं षड्विधप्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। तथा च दृश्यत इति पूर्वेण न पौनरुक्त्यम्। न सर्वेषामिति. प्रवाहात् भिन्नबुद्धीनामित्यर्थः। यथा गङ्गायामाधिदैविकगङ्गाविर्भावः, न त्वादिदैविकसरस्वत्यादेः तथा सर्वत्र तत्तद्वस्तुनि तत्तदाधिदैविकाविर्भाव इति गङ्गादृष्टान्तेन सूचितमित्याशयेनाहुः एतेनेति. गङ्गा दृष्टान्तकृतेन तत्तद्वस्तुनि तत्तदाविर्भावसूचनेनेत्यर्थः। प्रपञ्चमध्य एवेति. प्रपञ्चान्तः पातिनोर्भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाने तत्र भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्भगवता सहाभेदबुद्धिर्यस्य तस्मै तत्र तदाकृतितद्भक्तयोर्भगवत्प्राकट्यमित्यर्थः। आकृतिसाम्यादाकृतेरात्मन्यक्षरब्रह्मात्म (क)त्वाद्भक्तस्य चाधिदैविको भगवानिति ज्ञेयम्। अग्रिमेति. उक्तविधप्रत्यक्षानन्तरव्यवस्थामित्यर्थः। स्वाभीष्टेति. तथाभूतगङ्गायाः। स्थानभूतेति. आधिभौतिकाध्यात्मिकयोरभेदबुद्ध्यै तथा ज्ञानात्तथेत्यर्थः। सर्वत्र गृहादिष्वपीत्यर्थः। तत उद्धृतजलादिषु

नानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते. तद्बुद्धीत्यर्थः। यद्वा. येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तथा देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः। किञ्च. पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभावेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः। एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अत एव “मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शानार्चन”मिति भगवतोक्तम्। (एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना. तत्रापीति. साधर्म्येपि. एतदिति. किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते)। जगत्त्विति. त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, (तुशब्देन जले तथात्वं व्यावर्तितम्। ततस्तस्माद्धेतोः जगतीति वा. रूपवद्यथा जगतो रूपं त्रिविधम् तथा तत्रत्यत्रिविधानां देवता उपास्याः ब्रह्मादयः त्रयः प्रोक्ताः, तत्तच्छास्त्रे निरूपिताः। देवतेति स्त्रीलिङ्गप्रयोगात् तेषामस्वातन्त्र्यं द्योतितम्)। तेन तत्तदुपनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः। (ते तु प्राकृतानामेव नियामकाः, न तु ज्ञानिनामपीत्याहुः ब्रह्मणीत्थमिति)। ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

वा. एवमेवेति. सर्वत्र प्रपञ्चे इत्यर्थः। प्रवाहरूपाया अपीति. अनेन देवतारूपायास्तथा दर्शनं तथा भवत्येवेति सूचितम्। तद्बुद्धीत्यनेन प्रतीत्यापि तथा दर्शनमुक्तम्। यद्वेति. ग्रन्थार्थस्तु, येषां न प्रत्यक्षा, तेषां का व्यवस्थेत्याकाङ्क्षायामाहुः प्राकाम्यमिति. तेषामपीत्यस्य तथा भवतीत्यनेनान्वयः। अस्मिन्पक्षे विहितादित्यस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादि. अत एवेति. यतस्ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते, अतो हेतोरित्यर्थः। एवं दृष्टान्तेन त्रिरूपत्वमुपपाद्योपसंहरन्ति, मूले यथा जलमिति. सर्वं जगत्, शक्ता तीर्थरूपा, देवी आधिदैविकरूपा मूर्तिमती गङ्गा. तत्रापीति. अहन्ताममतानिवृत्तिरुभयत्राक्षरत्वेन ज्ञानं चेति चतुर्ष्वपि मध्ये एतद्वक्ष्यमाणप्रकारकं ब्रह्मात्मकत्वेन शाब्दं प्रपञ्चज्ञानं इहास्मिन्नेव जन्मन्यपेक्षितत्वेन उच्यते इत्यर्थः। एतदभावे लौकिको भोगो भवेत्, स तु प्रतिबन्धकत्वेनोक्तोस्तीति. भावेनाहुः जगदिति. तुशब्देन ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाते प्रपञ्चे त्रिगुणात्मकत्वं व्यावर्तितम्। तत इति. यतो हेतोस्त्रिगुणात्मकं जगत्। ततो हेतोः। रूपवदिति. यथा जगतो रूपं त्रिविधम् तथा तदुणाभिमानिन्यो देवताः प्रोक्ताः। यदा तु ब्रह्मात्मकत्वेन जगत् ज्ञातम्, तदा ब्रह्मणि इत्थं तद्देवत्वेन हरिः पुरुषोत्तमो

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति. तत्राप्येतदिहोच्यत इति. तत्रापि साधर्म्येपि. एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्तगङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः। जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये. क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति.

हरिरेव. (तर्हि भक्तानामपि लोकमध्यपातित्वात्तन्नियामकत्वं ब्रह्मादीनां कुतो नेत्यत आहुः कामचार इति. लोके तेभ्य एव कामचारः, त एव नियामका इत्यर्थः। न चान्यतेति. प्रकारान्तरेण नेत्यर्थः। भक्तेषु विशेषमाहुः परमानन्दरूप इति)। ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे जलादिषु श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः। सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः। अथवा. भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः। (ब्रह्माद्यपेक्षयात्र विशेषः ‘परमानन्दरूप’ पदेनोक्तः। एतावदुक्तस्य फलितार्थमाहुः अत इति. अत उक्तरीत्या सर्वापेक्षया श्रीकृष्ण एव भक्तिमार्गे भजनीय इत्युक्तम्, अतो हेतोस्तत्र बुद्धिर्विधीयताम् क्रियतामित्यर्थः। ननु कीदृशी बुद्धिरिति चेत्, तत्राहुः ब्रह्मवादेनेति. ब्रह्मवादे हि परब्रह्मणः साकारत्वं प्रतिपाद्यते, अतस्तदुक्तपरब्रह्मत्वेन श्रीकृष्ण एव बुध्यतामिति भावः। तथात्वं दामोदरलीलायां श्रीशुकेन स्फुटमेवोक्तं, “न चान्तर्न बहिर्यस्ये”ति “त्रय्या चोपनिषद्भिश्चे”त्यादिना. तेन ब्रह्मवादो भक्तिमार्गे अनुभवसाक्षिक इति निरूपितं भवति. अत एव तुशब्देन निराकारवादो व्यावर्तितः॥११॥

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति.

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रो व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।

गङ्गातीरस्थितो यद्बुद्धदेवतां तत्र पश्यति॥१३॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा-तथा॥१४॥

अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

मतः शास्त्र उक्तः। एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः कामचार इति. ब्रह्मादिभ्यो जातकामानां चारो भोगः अस्मिन् लोके भवति, लौकिको भवतीत्यर्थः। हरिकृतभोगस्वरूपः माहुः परमानन्द इति. एतस्यार्थमाहुष्टीकायां ये त्विति. ब्रह्मात्मकः प्रपञ्चो ज्ञानिनि भक्ते च. तत्र ज्ञानिनः कामाभावात् तद्व्यावर्तनाय तुशब्द उक्तः। स्वात्मविषय इति. स्वात्मपदं स्वात्मीयपरम्। कामचार इति. कामचारनिश्चय इत्यर्थः। लक्षणानङ्गीकारेण पक्षान्तरमाहुः अथवेति. अस्मिन्पक्षे आत्मपदं कृष्णविशेषणम्। तत्प्रार्थने “त्वदुच्छिष्टं भोज्य”मित्यादिभगवत्प्रार्थने. यतो हेतोर्ब्रह्मैकनिष्ठानामेव व्यवहारो ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति, अतो हेतोः सर्वं पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतमक्षरं ब्रह्मैवेति ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यमित्यर्थमाहुः मूले अतस्त्विति.

अथेति. अस्य जन्मान्तरीयत्वाय भिन्नः प्रक्रमः। जीवस्वरूपं तन्मुक्ति-

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।
 लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥
 क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

आत्मविषय उच्यते इति शेषः। जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्याया न्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारमापद्यन्ते. इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम्। अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः। व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते. न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च. उपाधिनाश इति. तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्भुवति, तत्प्रकारकगुरुपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधैर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकाशेण पश्यतीत्यर्थः। तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवति न तदतिरिक्तमपेक्षते. भजनोपयोग्यार्थपेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिददुःखी भवति. एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः। (गङ्गातीरस्थित इति. यद्वद् यथा गङ्गातीरस्थितस्तत्र प्रवाहमध्ये देवतामाधिवैकीं

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

प्रकारं अहंममतानिवृत्तिप्रकारं स्वात्मन्यक्षरब्रह्मात्मकत्वे ज्ञानं चाहुरित्यर्थः। चतुर्षु मध्ये प्रपञ्चेऽक्षरत्वेन ज्ञानं पूर्वजन्मन्यपेक्षितत्वेनोक्तमिति भावः। तदात्मकत्वमिति. अक्षरात्मकत्वम्। इदमेवेति. अज्ञानजनकत्वमेवेत्यर्थः। येन प्रकारेणेति. त्रिविधमिष्टपुष्टिमध्ये येन प्रकारेण. अविद्यालक्षणोपाधेरिति. अविद्याः स्वरूपाज्ञानादिपञ्चपर्वणि लक्षणानि वृत्तयो यस्योपाधिर्मूलाविद्यात्मकस्येत्यर्थः। ब्रह्मात्मकत्वेति. येन प्रकारेणोद्दिधीर्षा, तत्प्रकारक एव गुरुपदेशोपि सम्पन्नो भवति, तेन ब्रह्मात्मकत्वामपि तत्प्रकारकमेव भवति. यादृशी लीला अनुभावयिता प्रभुर्भवति, तादृशलीलाधिष्ठानत्वं स्वस्मिन्ननुभवतीत्यर्थः। तस्मिन्निति. पुरुषोत्तमाविर्भावे जाते सतीत्यर्थः। स्वात्मनीति. ज्ञानमार्गे गुहायां परमव्योम्नि लीलाविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भावः। भक्तिमार्गे त्वात्मन्येव तदाविर्भाव इति स्वपदम्। अयमेव च प्रकर्षः। तं लीलाविशिष्टं पुरुषोत्तमं पश्यतीत्यर्थः। इदमेव निवेदनाङ्गभूतं दर्शनं ज्ञेयम्। तस्य स्वात्मनि पुरुषोत्तमदर्शनवतः तदतिरिक्तं भगवदतिरिक्तम्। अर्थपेक्षायां जलाद्यपेक्षायाम्। प्रभुणैव सर्वमिति. अक्षरात्मकाधिष्ठानभूतजलाभावेपि पुरुषोत्तमात्मकलीलासृष्टिस्थजलाविर्भावो भवतीत्यर्थाभावप्रयुक्तं दुःखं कदापि न भवतीत्यर्थः। एतज्ज्ञापनार्थमिति. स्वपदस्य ज्ञानिभक्तविभेदसूचकत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः। स देवतां तत्र गङ्गायामेव पश्यति, तथायमपि स्वस्मिन्नेव

१. न तु ब्रह्मधर्मबाधनार्थमितिपाठः।

ता पश्यति तथा ज्ञानी स्वस्मिन् आत्मनि परं ब्रह्म कृष्णं पश्यति, परं भक्त्येति विशेष उभयत्र ज्ञातव्यः। तदभावे तु दर्शनमपि दुर्लभम्, कुतस्तत्रां भजनमिति भावः। “भक्त्या या दृश्यते क्वचि”दिति पूर्वमुक्तत्वात् “भक्त्याहमेकया ग्राह्य” इति प्रभुवचनाच्च. ननुक्तप्रकारकज्ञानाभावेपि लोके भजनं दृश्यते, तत् कथमितिपेक्षायामाहुः संसारेति। यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरुपदेशमात्रेण भजते संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्यापुरुषोत्तमाविर्भावाभावात्, स तु गङ्गातो दुरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति तथा अयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्धार्थपेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः। तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः। अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलप्यतीति ज्ञेयम्। (तेन प्रवाहभक्तिमार्गीयोऽयंनिरूपितः, अन्यथा मध्येऽनङ्गीकारः, तेन भजनप्रतिबन्धादिकं न स्यात्। ननु पुष्टिमार्गं परित्यज्य किं तत्कथनेनेत्याशङ्क्याहुः तस्मादिति. यस्मात् प्रवाहस्थभक्तेऽप्येवमङ्गीकारः प्रभोः, यज्जन्मान्तरेपि तं न त्यजति, तस्माद्धेतोः श्रीकृष्णमार्गस्थः पुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतोपि मुक्तो भिन्नो विशिष्टश्चेत्यर्थः। सर्वपदात् ज्ञानितः प्रावा-

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

कृष्णं पश्यतीति मूलार्थः। ज्ञानी स्वास्मिन्तादृशाक्षरत्वज्ञानवानित्यर्थः। यस्त्विति. तुशब्देन लीलासृष्टिविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भाववतो व्यावृत्तिः। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन प्रपञ्चज्ञानवान् प्रपञ्चासक्तः। स एव संसारी. न त्विति. तत्राप्येतदिहोच्यत इति सन्दर्भेणोक्तस्तावन्मात्रवान्। अवशिष्टत्रितयरहित इत्यर्थः। स त्विति. इदं पदं “क्लेशभाग्भवती”त्यनेन सम्बध्यते. भक्तिमार्गस्थ इति. भजनाकाङ्क्षा प्रतिपादिता. साक्षादिति. सत्यं भजनोपयोगिजलाद्यपेक्षायां कदाचित्परीक्षार्थं प्रारब्धमोजनार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते तदा तदधिष्ठानभूतजलाद्यभावेन लीलासृष्टिस्थपुरुषोत्तमात्मकजलाद्यप्राप्त्या क्लेशभाक् भवतीत्यर्थः। ननु सर्वस्यापि सेवोपयोगियावदर्थप्राप्त्योद्वेगहेतुक्लेशभाक्त्वस्य सिद्धत्वात्तेन न सेवानिर्वाह इति चेत्, सत्यमित्याशयेनाहुः तथापीति. अङ्गीकारात् पुष्टिपुष्टावङ्गीकारात्। अङ्गीकारेण प्रतिबन्धककृतः प्रतिबन्धो न भवतीत्यर्थः। अङ्गीकारे च भजनत्यागाभाव एव मानम्। अनङ्गीकार इति. पुष्टयंशे मर्यादास्थित्वा, पुष्टिपुष्टा वनङ्गीकारे तु मध्ये-मध्ये प्रतिबन्धककृतौ भजनप्रतिबन्धो भवति, तदा द्वितीयजन्मनि तद्भजनं फलिष्यति. निर्वक्ष्यतीति ज्ञेयमित्यर्थः। कृतभजनेति. भजनस्य फलं भजनमेव. भजननिर्वाह इति यावत्। तदभावासम्भवादित्यर्थः। मूले तस्मादिति. यतो हेतोस्त्रितयरहिततस्तत्तदधिष्ठानापेक्षो दुःखभाक् तस्माद् हेतोः शुद्धिपुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतो विमुक्तश्चतुष्टयमपि सम्पाद्याधिष्ठानापेक्षारहितः तथाविधं कृष्णमेव विशेषेण चिन्तयेदिति सम्बन्धः। श्रीकृष्णेति. रसात्मकनामोक्तेः। पुष्टीति. पुष्टिमार्गीयभक्तेषु प्रकटिता ये तथाविधा

हिकभक्ततः, कैमुतिकन्यायेन साधारणलोकतश्चेति ज्ञेयम्। ज्ञानिनः संसाराभावात् संसारिणो ज्ञानाभावेन दुःखभाक्त्वम्। पुष्टिमार्गीयस्येव प्रभुस्वरूपं ज्ञात्वा सर्वस्व निवेदनपूर्वकं सर्वात्मभावेन भजनं स्वप्नेपि दुर्लभम्। पुष्टिमार्गीयस्य प्रभ्वनुग्रहेकनियम्यत्वात् सर्वमुपपद्यत इति ततो वैशिष्ट्यम्। एतावत्सर्वं श्रीकृष्णमार्गस्थपदेन द्योतितम्। अतः सर्वमवदातम्। ननु वित्तद्यभावे पुष्टिमार्गीयस्यापि भजनासम्भवे दुःखित्वात् कथमुक्तवैशिष्ट्यमित्यपेक्षायामाहुः) आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति। श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटि

तनिरवध्याननन्देषु विहरन्तमित्यर्थः। ते तु ब्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव। अत आत्मपदं भगवत्परम् (बहिरसम्भवेप्यन्तरेवं भजेत्। अतो नोक्तानुपपत्तिरिति भावः। ननु कश्चिज्जीविकाद्यर्थमपि भजते, तस्य का गतिरित्यत आहुः लोकार्थीति। लोकपदेन लौकिकोऽर्थ उच्यते, तदर्थं चेत् कृष्णं भजेत्, तदा व्यापारवदर्थं सिद्धे तस्याप्यनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव। अतः क्लिष्टो भवतीत्यर्थः। न केवलमैहिकः क्लेशः, किन्तु परलोकोपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति सर्वथेत्युक्तम्। यस्य स्वल्पमपि ज्ञानम्, स नैवं करोति, सर्वथा तद्रहितः कश्चिदेवं कुर्यादपीति चेदित्युक्तम्। अत्र मूलनामोक्तिर्भजनकर्तुरभिप्रायेण, अन्यथा तदसम्भवात्। तर्हि लोकार्थित्वाभावेपि तद्रहितस्य भजनासम्भवात् को विशेष इत्यत आहुः क्लिष्टोपीति। लौकिकार्थाभावेन क्लिष्टोपि गीतायां नवमेऽध्याये “पत्रं पुष्पं फलं तोय”मिति वचनात् कृष्णं चेत् भजेत्, तदा यथासम्भवं भजनमर्थादेव सिध्यति, परं लोको नश्यति। लौकिकं न सिध्यति, न तु स्थितं नश्यति, भजनसिद्धौ न तावता कापि हानिरिति भावः। भगवतस्तथेच्छेति सर्वथेति निरूपितम्। चेदिति तथा भजनमशक्यमिति ज्ञापनाय) ॥१३-१४-१५-१६॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतितटिप्पणी।

आनन्दास्तेषु। तद्दत्त इति। भगवद्दत्तः। अत इति। तथाविधानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वादेव। अनेन चिन्तनरूप आत्मनिवेदाङ्गभूतः स्नेह उक्तः। कृष्णमेवेत्येवकारेण मुख्या प्रेमलक्षणा भक्तिश्लोक्ता। मूले लोकार्थीति। लोकसिद्धा लौकिका येऽर्थास्तद्वान्, प्रपञ्चत्वेनैव प्रपञ्चज्ञानवानित्यर्थः। स यदि लौकिकार्थेनैव कृष्णसेवां कुर्यात्, तदा स प्रारब्धाधीन इति तत्तदधिष्ठानाप्राप्त्या सर्वथा क्लिष्टो भवति। तस्य प्रवाहमिश्रत्वे सर्वथा भजनत्यागो भवति, ततो बहुभिर्जन्मभिस्तत्सिद्धिः। पूर्वोक्तः संसारी तु प्रारब्धाधीनः। परीक्षार्थं प्रारब्धभोजनार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदा तदप्राप्त्या कदाचित् दुःखभाग् भवति। “स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यती”त्युक्तस्तु चतुष्टयवानधिष्ठानापेक्षः कदाचिदपि दुःखी न भवतीति विभाग इति भावः। पुष्टिमिश्रस्य प्रकारमाहुः क्लिष्टोपीति। तादृशोपि चेद्भजेत्, तदा लोको नश्यति। लोकः स्वत एव दर्शनविषयो न भविष्यतीत्यर्थः। भजनात्यागज्ञापिताङ्गीकारेणैव तत्सिद्धिरिति भावः।

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः। उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति।

ज्ञानभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥

(पुष्टिमार्गी पूजोत्सवादिषु तिष्ठेत्, पुष्टिपुष्टिमार्गे पूजापदं तस्य ज्ञानाभावात् प्रथमप्रवृत्तिभिप्रायेणोक्तम्। मनसस्तन्निष्ठितायां कृतिर्थादेव सिध्यतीति तत्कुर्यादित्यनुक्त्वा तत्र तिष्ठेदित्युक्तम्। मर्यादायां प्रकारान्तरमाहुः मर्यादास्थ इति। गङ्गायां गङ्गासमीपे श्रीभागवततत्परस्तिष्ठेदिति पूर्वेण सम्बन्धः। उभयोरन्यतरधर्मव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः। तत्र भेदकं किमित्याकाङ्क्षायां) पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति। तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा। तस्य विधिर्न नियामक इति भावः। मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति। यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः। एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानादिक इति।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतितटिप्पणी।

टीकायाम् स्वस्वरूपेति। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन स्वस्वरूपज्ञानं, तत्राधिष्ठितत्वेन च प्रभुस्वरूपज्ञानं ज्ञेयम्। पूर्वोक्तः संसारीत्यर्थः। पुष्टिमर्यादिति। विशेषणभूतैतद्व्यभेदेनेत्यर्थः। प्रवाहस्थस्तु लोकार्थीत्यर्थेनोक्त इति भावः। मूले पूजोत्सवादिभूतौ येषु तेषु भगवद्भर्मेष्ट्वित्यर्थः। मर्यादामिश्रस्तु जन्मान्तरे नित्यभजनार्हदेहसिद्ध्यर्थं गङ्गायां तिष्ठेदित्याहुः मर्यादास्थस्त्विति। पुष्टिमिश्रस्य त्वनुग्रहो नियामको नित्यभजनसाधकः, अतो योग्यदेहापेक्षाभावात्स्थितिस्थला नाग्रह इत्याशयेनाहुः अनुग्रह इति। टीकायां मर्यादास्थाविति। मर्यादामिश्रपुष्टिस्थावित्यर्थः। ब्रह्मज्ञानेन परप्राप्तिमान् ज्ञानी, तद्विनैव तद्वान् भक्त इति ज्ञेयम्। विशेषत इति। मर्यादांशे पुष्ट्यंशं योजयेच्चेत्, तदादौ योग्यदेहात् पूर्वमेव पुष्टिरूपमार्गप्राप्त्यर्थः। पुष्टिप्राप्तिर्भगवत्कृततद्योजनेन भवतीति भावः। तन्मार्गीयां भक्तिं आत्मनिवेदनाङ्गस्नेहं प्रेमलक्षणां भक्तिं वा। इदमेव मूले पूर्वोक्तपदेन ग्राह्यम्। उभयोरिति। उभयोर्मर्यादापुष्टिस्थज्ञानिभक्तयोः। मर्यादायामेवेति। मर्यादाभेदेष्ट्वित्यर्थः। एवकारः पुष्टिभेदव्यवच्छेदकः। एवं निरूपण इति। लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति। तत्र ज्ञानं हि

ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्। ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च. एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्ठः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये. गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। न ही देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्। न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वं भवति. अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति “यो मामेवसम्मूढ” इत्युपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेने”ति प्रभुरुक्तवान्। अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम्। ऋग्वेदेऽपि पठ्यते “तमु स्तोतारः पूर्वं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन. आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे”. हे स्तोतारो भगवदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्वं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः। ऋतस्य सनूतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्। स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा. जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णं, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तनं पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति. तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते. भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्ज्ञानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु. अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु. एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम्। चिदिति. चिदित्युपलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः। नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि. ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे. स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति. तेजोरूपमित्यर्थः। स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति. एवमेव ‘तद्विष्णोः’ ‘तद्विप्रास’ इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठुक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति॥१७-१८-१९॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

गङ्गादृष्टान्तेन भक्तिमार्गनिरूपणे. तात्पर्यं ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यं ज्ञापनरूपमाहुरित्यर्थः। गङ्गायामिति. आधिभौतिकादिभेदेन गङ्गायां क्षरादिदृष्टान्तः स्पष्टः। ननु जलतीर्थात्मिकैव गङ्गा, न तु तदतिरिक्ता देवतारूपेति कथं गङ्गादृष्टान्त इत्यत आहुः नहीति. किन्त्विति. इदं पदं तदतीतेत्यनेन सम्बध्यते. यद्दर्शने भक्तत्वं भवति सा देवीति भावः।

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति.

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।

अन्यथा भावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।

एतद्बुद्धा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः। एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति (सप्रयोजनमुक्तमुपसंहरन्ति एवमिति. उक्तप्रकारेण स्वशास्त्ररूपं स्वशास्त्रस्य वा सिद्धान्तरूपसर्वस्वं गुप्तं स्वल्पेन बहु निरूपितत्वात् गम्भीरतात्पर्यं बहिर्मुखानामज्ञापनीयं वा. किं तेनेत्यत आहुः एतदिति. एतज्ज्ञानेन स्वमार्गसम्बन्धिसर्वसंशयनिवृत्तिर्भवति, अन्यथा ‘संशयात्मा विनश्यती’ति बद्धिरन्यथा भवेदित्यर्थः)॥२०-२१॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत्।

श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ॥१॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी।

तात्पर्यान्तरमिति. पूर्वं “ज्ञानाधिक इत्यनेन भक्तेर्ज्ञानाधिक्यरूपं तात्पर्यमुक्तम्। अनेन भक्तेरावश्यकत्वरूपं तात्पर्यमुच्यते. भक्त्यभाव इतीति. तीर्थात्मकत्वेन जानन्नपि तीरस्थितोपि भक्त्यभावे दुष्टैः कर्मभिः अन्यथा भावं जलत्वेनैव ज्ञानमापन्नस्तस्मात् स्थानात्तीर्थत्वज्ञानादपि नश्यतीत्यर्थः। तथाभवतीति. अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानवानपि दुष्टैः प्रारब्धैः स्वकर्मभिरन्यथाभावं प्राप्तः प्रपञ्चत्वेनैव जानन् तस्मात् स्थानात् ब्रह्मात्मकत्वाज्ञानान्नश्यतीत्यर्थः। न च ज्ञानेन सर्वपापक्षयात् कथमन्यथाभावो वक्तुं शक्य इति शङ्क्यम्। ज्ञानस्यानारब्धानामेव कर्मणां नाशकत्वात्। प्रारब्धकर्मणां नाशस्तु पुष्ट्यैवेति सिद्धं भक्तेरेवावश्यकत्वम्। मूले एवमिति. पूर्वोक्तप्रकारेण. स्वशास्त्रेति. स्वशास्त्रस्य सेवाप्रकाररूपं सिद्धान्तम्। गुप्तं निरूपितमिति. गुप्ततया निरूपितम्। एतदिति. यन्मया गुप्तं निरूपितम्। एतद्बुद्धा विमुच्येत. सर्वसंशयादेतद्ग्रन्थनिवर्त्याद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः। पुनः कदापि संशयं न प्राप्नोतीति विशब्दार्थः।

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी।

श्रीकृष्णाय नमः।
सिद्धान्तमुक्तावली।
श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवृत्तिसमेता।

प्रणम्यपितृपादाब्जपरागमनुरागतः। कृपयाविशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम्॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥

स्वसिद्धान्तेति। अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थं निश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः। तमेवाहुः कृष्णसेवेति.

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

श्रीकृष्णाय नमः। प्रणम्येति. अत्र नमने प्रकर्षो भक्तिमार्गीयत्वम्, तच्च सुसेव्यत्वज्ञानपूर्वकत्वे सति भक्तिकारणकत्वम्, तदेव भक्तिमार्गीयतावच्छेदकद्वयं प्रकटयन्ति पितृपादाब्जेति. पितृपदं भक्त्यनपेक्षपुत्रवात्सल्यबोधकम्। हृदयाविष्टस्य घनीभूतानन्दरूपपादस्य परागस्तस्मात् सुत आनन्दः। भगवच्चरणारविन्दे हृदये समागते य आनन्दोऽनुभूयते तत्स्वरूप इत्यर्थः। तथा च पितृपादाब्जपरागमित्यनेन सुसेव्यत्वज्ञानरूपमवच्छेदकमुक्तम्। अनुरागत इत्येनेन भक्तिरूपं द्वितीयमवच्छेदकमुक्तम्। एतादृशनमनाभिव्यञ्जितपदार्थमाहुः कृपयेति. भगवद्भूमाणां नित्यवादभिव्यक्तेरेवाङ्गीकारात् कृपायास्तथात्वमिति मन्तव्यम्। अत एवासाधारणकारणतया तदुक्तिः। तादृशनमनोपकारसिद्धां तत्कृपायाः, नमनस्य करणत्वं तत्क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वादिति भावः। स उपकारः, तत्सिद्धां कृपामित्यर्थः। कृपया ग्रन्थवैशद्यकरणकथनेन स्वपितृचरणानां वागधिपतित्वमप्युक्तम्, तत्कृपाया एव तथाकरणसामर्थ्यात्। नमनजन्यपदार्थमाहुः विशदीकुर्म इति. वैशद्यं स्फुटीभावः। किमित्याकाङ्क्षायामाहुः तदिति. तद्वङ्मिष्टमुक्ताफलरूपार्थराशिमित्यर्थः। मुक्ताफलपदस्य कल्पना वृत्त्यर्थबोधकत्वम्। सादृश्यं च नैर्मल्यसामान्यधर्मेण. नैर्मल्यं चात्र प्रोज्झतकैतवत्वम्। वाच एव मुक्ताफलनीत्ययं पक्षस्तु अत्रार्थस्यैव स्फुटभावं प्राप्तत्वादसम्भवग्रस्तः। वाग्वैशद्यं तु व्याकृतावुच्चारणे चैव प्रसिद्धम्। मूले स्वसिद्धान्तेति. स्वसिद्धान्तस्य अयमेव शास्त्रार्थ इति विशेषेण निश्चयो यस्मात् तादृशं ग्रन्तरूपं निश्चायकं वाक्यम्। इदं च प्रतिज्ञावाक्यम्। महावाक्यानुमाहुः कृष्णसेवेत्यादि. टीकायां अग्र इति. अस्मिन्नेव ग्रन्थे “मायिकं सगुणं कार्य”मित्यादिभिर्वक्ष्यमाणैः। शास्त्रार्थस्य गीताभागवतार्थस्य. तन्निरासाय शास्त्रार्थसन्देहनिरासाय.

फलात्मकनामोक्ता स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः। तदुक्तया जीवनामेशषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्। अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति. आवश्यकार्थण्यत्प्रत्यान्तकार्यपदोक्तया तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते. सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः। यथा व्रजसीमन्तिनीनाम्। तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं “ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदं” मित्यादिना॥१॥

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

सन्देहस्वरूपं तु स्वयमेवाग्रे वक्ष्यन्ति स्वेति. एतन्निरूपकशास्त्रार्थस्य निश्चयो यस्मात्तमित्यर्थः। फलात्मकेति. फलरूपस्य तस्य स्वतः पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः। फलसेवनं हि स्वतः पुरुषार्थः इति, अत एव धर्मार्थयोः काममोक्षद्वारा पुरुषार्थता. काममोक्षयोरेव साक्षात् सुखहेतुत्वात् स्वतः पुरुषार्थत्वम्, “पुप्रीतिहेतुर्हि पुरुषार्थ” इति जैमिनिनिद्धान्तात्। यथा कामिन्याः। स्वतःपुरुषार्थत्वेन. कामप्रयत्नयोरेकविषयत्वेनेत्यर्थः। ननु एवं “मानसी सा परे”त्यनेन मानस्याः सेवायाः फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवायाः सिध्यति, न तु स्वतःपुरुषार्थत्वम्, किन्त्वन्यशेषत्वमेवेति चेत्, तत्राहुः न त्वन्येति. यत्र विजातीयफलार्थत्वं तत्रैवान्यशेषत्वम्, यथा विजातीययोर्धर्मार्थयोः शेषशेषिभावः, प्रकृते तस्या एव सेवाया अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाददोष इति भावः। नन्वेवं मानससेवारूपमोक्षजनकतया सेवाकृतिरित्यागतम्, तत्र मोक्षजनकता तु भगवत्सम्बन्धेनैवावच्छिद्यते इति भगवद्विषयकं कामक्रोधादिकं ज्ञानमेव वा तत्साधनमस्तु, किं नूतनसेवाविधानेनेत्यत आहुः सेवा हीति. स्वधर्मत्वात् सेवाकृतिरुचिततरैव. किञ्च, सेवोक्त्या च जीवानां दासत्वं ज्ञापितम्। सहजेति. अत्र सहजातमिति विग्रहस्थजातपदं सत्तापदं, जीवस्य नित्यत्वेन जननासम्भवात्। तथा च सहसत्ताकमित्यर्थः। यथा जीवसत्ता सार्वदिकी तथा दासत्वसत्तापि. अत एव जीवस्य सहजदासत्वेन अत्र सेवायां सहजधर्मत्वादेव. कर्मणीवेति. कर्म न सहजधर्मः, तस्यैव जन्मान्तरे शूद्रदेहेऽनधिकारादिति भावः। कालपरिच्छेदोऽस्मिन् काले न कर्तव्येतिरूपः। सेवायां कालपरिच्छेद्यत्वादिधर्माभावेपि प्रत्यवायजनकीभूता भावप्रतियोगित्व रूपधर्मोस्तीत्याहुः आवश्यकार्थेति. सा चेति. सा पूर्वोक्तैव सेवा. दास्यधर्मविशिष्टा साधनरूपा, सर्वार्थेन कृष्णसम्बन्धविशिष्टा फलरूपा. मानसी सेवा. यथेति. यथा यत्प्रकारिका सेवा व्रजसीमन्तिनीनां सिद्धा, सा सेवेति आशयः। तदेव मानससेवायाः स्वरूपमिति. “मय्यनुषङ्गबद्धविय” इत्यनेन साधनसेवानुवादपूर्वकमन्यानु सन्धानराहित्यरूपं ‘नाविद’न्नित्यनेनोक्तम्। अथवान्यानुसन्धानरहितभगवत्येव

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति.

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका. एतादृशेन पुंसा कृता चापरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्। एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः। एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता. इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्। भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः॥२॥

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

निष्ठत्वरूपम्। एतदेव वक्ष्यमाणे उक्तसेवेति. उक्तसेवा मानसी सेवा. इतरे तनुवित्तजे. एकेति. वित्तजेत्यर्थः। एतादृशेन. वित्तग्रहीत्रा पुरुषेण. अपरा तनुजा. तत्साधिके इति. फलरूपसेवासाधिके। तथा चैककर्तृक एव ते तत्साधिके इति भगवदपेक्षितयाबद्धव्याभावात्ता दृशतनुसामर्थ्याभावाच्चासम्भावितमिव भातीति चेत्, तत्राहुः एतेनेति. एवं सेवाकथनेन. फलाकाङ्क्षारहितयावत्स्वीयद्रव्यादि निवेदनपूर्वकं कार्यान्तरविनियोगरहितभगवदर्थस्वदेहविनियोगे भगवत्सेवाकरणे क्रमप्राप्तप्रेम्णि जाते सा मानसी सेवा. क्रमस्त्वग्रे विवेच्यः। एतादृशस्येति. निवेदितस्वीयर्सस्वस्य भगवत्सेवाविनियुक्तस्य पुरुषस्य. तत इतीति. उक्तसाधनरूपसेवाद्वयतः। तन्निवृत्त्येति. संसारनिवृत्त्या. अनिष्टेति. फलप्रतिबन्धकत्वात् संसारस्यानिष्ठत्वम्। (मूले संसारो दुःखो दुःखजनक इत्यर्थो ज्ञेयः)। इष्टेति. फलसाधकत्वात् ब्रह्मज्ञानस्येष्टवम्। स्वात्मनीति. आत्मनि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु. अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानमहन्तानिवृत्तौ, प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं ममतानिवृत्ताविति विभागः। (भक्तस्याक्षरज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन भवतीति तृतीयाध्याये तृतीयचरणे व्युत्पादितम्। तथा चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन ज्ञानमित्यर्थः। स्वात्मनि प्रपञ्चे च भगवदीयत्वेन ज्ञानमिति यावत्। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमनुपदमेव विवेक्ष्यते)। ननु तादृशज्ञानहेतुत्वात् सेवायाः स्वतःपुरुषार्थत्वव्याहतिरित्यत आहुः भगवत्सेवायामिति. ते इति. उक्तब्रह्मात्मकत्वज्ञाने. वस्तुन आत्मसमर्पणस्य स्वभावात्। स्नेहो हि भक्तिः। स च दर्शनं विना न भवतीति निबन्धे निरूपितम्। अतः श्रवण दर्शनं स्नेह इति त्रयं मिलितं एका श्रवणभक्तिर्भवति. ध्यानं तु फलान्तरीयकत्वात् फलमध्यपात्येव. एवं नवस्वपि. तथा च ब्रह्मबोधनस्य वक्ष्यमाणरीत्यात्म निवेदनाङ्गदर्शनयोग्यतासम्पादकत्वात् तत्स्वभावादेव ते ज्ञाने भवत इत्यर्थः।

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति.

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति. एते हि भगवद्भर्मात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकक्षरं ब्रह्म. अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते. एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौः जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति. कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते. कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति. तत् अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति. प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः। एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः। न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः। उभयोर्धर्मयोरैकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्। विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि “तदेजति

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

पूर्वोक्तज्ञानविषयीभूतमेव परं ब्रह्मेति कस्यचिच्छाङ्का स्यादिति तां वारयितुमाहुः इदमेवेति. इदं पूर्वोक्तज्ञानविषयमक्षरं ब्रह्म. अत्रेति. अक्षरे ब्रह्मणि. रूपं धर्मः। ननु सच्चिदानन्दकत्वस्य पुरुषोत्तमेपि सत्त्वात् कथं तस्य भेदकत्वं तत्राहुः एते हीति. सच्चिदानन्दाः। तत्रितयं सच्चिदानन्दत्रयम्। अत एव अक्षरस्य सच्चिदानन्दात्मकत्वादेव. तदात्मक अक्षरब्रह्मात्मकः। तस्मिन् प्रपञ्चे. अत एवेत्यस्य उच्यत इत्यनेनान्वयः। तथा च यतो हेतोर्क्षरस्य सर्वकारणरूपस्य तत्रितयात्मकत्वम्, अतस्तत्कार्यरूपप्रपञ्चस्यापि तत्रितयात्मकत्वमित्यर्थः। एतावानिति. अक्षरब्रह्मणः सकाशात्प्रपञ्चे विशेषः। तमेवाहुः जड इति. इतरौ चिदानन्दौ। आद्यौ सच्चितौ। परमात्मनि अन्तर्यामिणि. ननु भगवद्भर्माणामपि “प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा”दिति न्यायेन भगवत्त्वमेवेति न भेदसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुः कप्रत्ययेनेति. कप्रत्ययस्य हीनार्थकत्वादित्यर्थः। पुरुषोत्तमवदिति. प्रजापतिवद्गणितानन्दत्वम् कृष्णेति. कृष्णशब्दस्य परब्रह्मवाचकत्वात् तत्स्वरूपं तेनैव निरूपितम्। इतीति. पुरुषोत्तमस्वरूप निरूपणाकाङ्क्षा निवृत्तिपूर्विकाक्षर निरूपणाकाङ्क्षारूपाद्धेतोः। एतावद्रूपकमक्षरं ब्रह्मेत्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्तीत्यर्थः। द्विरूपमिति. अत्रैकपदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्रान्वेति. एकरूपत्वेनेति. प्रपञ्चरूपस्य तस्यानेकरूपत्वं तद्भिन्नरूपस्यैकरूपत्वम्। श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेति. प्रपञ्चाकारणत्वेन. पुरुषोत्तमाधिष्ठा नत्वादिभिरिति. लीलाविशिष्ट पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमि-

तन्नैजती” त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात्। लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि। इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्चयते॥३॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।

मायिकं सुगणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते। तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः। मायिकमिति हि मायावादिनः। सुगणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः। कार्यं द्वयगुणादिक्रमणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः। स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः। चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते॥४॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्:

द्विरूपं चापि गङ्गावज्जेयं सा जलरूपिणी॥५॥

माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥

“स हैतावानास”, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला” नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः। एकस्वैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति। प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्जेयम्। अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम्। आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यदृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिहासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च। अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा। एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः॥५-६॥

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

त्यर्थः। आदिशब्देन पादत्वादयो धर्मा ग्राह्याः। तत्रायं विवेकः। आधिभौतिकजलस्याक्षरत्वेन ज्ञाने तस्याक्षरत्वात् तत्र सेवोपयोगिलीलासृष्टिस्थपुरुषोत्तमात्मकजलाधिष्ठानत्वम्, एवमक्षरात्मके भगवदाकारादौ पुरुषोत्तमस्वरूपाधिष्ठानत्वमिति। अत्रेति। प्रपञ्चाक्षरयोः।

विरोधेति। भिन्नधर्मत्वात् ब्रह्म कथं जगद्रूपं भवितुमर्हतीत्याकारको विरोधः भेदः तत्परिहारायेत्यर्थः।

स्वतन्त्रमिति। स्वभावत एवोत्पत्त्यादिविशिष्टम्, न कदेति नतु परतः तथाभूतम्। द्विरूपत्वमिति। प्रपञ्चतद्भिन्नरूपत्वम्। उद्धृतजले जलत्वाविशिषेपि मर्यादयास्वस्थाने एव फलदा। एवमेवेति। यथाधिभौतिकी जलरूपा, आध्यात्मिकी तीर्थरूपाप्येकैव गङ्गा। एतत्प्रकारेणैव प्रपञ्चतद्भिन्नप्रपञ्चभिन्नज्ञान्युपास्यादिरूपमेकमेवाक्षरं ब्रह्म।

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्यर्थे॥७॥

प्रत्यक्षा सा व सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।

विहिताच्च फलात्तद्भिः प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥

यता जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।

यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते॥९॥

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा।

परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः॥११॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः। तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति। भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः। तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव। अथवा। यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः। भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति। देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवद्भेदबुद्ध्यर्थे तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते। अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति। स्वामीष्टस्वसर्व-

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

उक्तद्विरूपायामिति। आधिभौतिकाध्यात्मिकरूपायाम्। सा गङ्गा। तदिति। उक्तद्विरूपातः। तत्र भेदे। उक्तद्विरूपयोर्मूर्तिमत्त्वाभावादाधिदैविकस्यैव मूर्तिमत्त्वादित्याशयेनाहुः मूर्तिरितीति। तदपीति। दर्शनम्। क्वचिदिति। एतत्पदस्य कालवाचकत्वाशयेनाहुः भक्त्युद्रेकेति। देशवाचकत्वाशयेनाहुः गृहादिष्वपीति। प्रत्यक्षा भवतीति। यथासम्भवं षड्विधप्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः। तथा च दृश्यत इति पूर्वेण न पौनरुक्त्यम्। न सर्वेषामिति। प्रवाहात् भिन्नबुद्धीनामित्यर्थः। (यथा गङ्गायामाधिदैविकगङ्गाविर्भावः, न त्वाधिदैविकसरस्वत्यादेः तथा सर्वत्र तत्तद्वस्तुनि तत्तदाधिदैविकाविर्भाव इति गङ्गादृष्टान्तेन सूचितमित्याशयेनाहुः) एतेनेति। (गङ्गादृष्टान्तकृतेन तत्तद्वस्तुनि तत्तदाविर्भावसूचनेनेत्यर्थः)। भक्तविशेषे तथा विधप्रत्यक्षकथनेन। प्रपञ्चमध्य एवेति। प्रपञ्चान्तःपातिनो भगवदाकार भगवद्भक्तयोर्दर्शने ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाने। तत्र भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्भगवता सहाभेदबुद्धिर्यस्य तस्मै। तत्र तदाकृतितद्भक्तयोः। अग्रि-

स्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः। एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः। विहितेति. भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते. तद्बुद्धित्यर्थः। यद्वा. येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तथा देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः। किञ्च. पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः। एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अत एव “मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन”मिति भगवतोक्तम्। एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना. तत्रापीति. साधर्म्येपि. एतदिति. किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते. जगत्त्विति. त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, (तुशब्देन जले तथात्वं व्यावर्तितम्। ततस्तस्माद्धेतोः जगतीति वा. रूपवद्यथा

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

मेति. उक्तविधप्रत्यक्षानन्तरव्यवस्थामित्यर्थः। स्वाभीष्टेति. तथाभूतगङ्गायाः। स्थानभूतेति. आधिभौतिकाध्यात्मिकयोरभेदबुद्ध्या तथा ज्ञानतथेत्यर्थः। सर्वत्र गृहादिष्वपीत्यर्थः। तत उद्धृतजलादिषु वा. एवमेवेति. तथाभूतगङ्गायाः प्रवाहरूपायास्तथा दर्शनं तथा भगवत्येवेति सूचितम्। तद्बुद्धीत्यनेन प्रतीत्यापि तथा दर्शनमुक्तम्। ग्रन्थस्वारस्यात्पक्षान्तरमाहुः यद्वेति. ग्रन्थस्वरसस्तु, येषां न प्रत्यक्षा, तेषां का व्यवस्थेत्याकाङ्क्षायामाहुः प्राकाम्यमिति. तेषामपीत्यस्य तथा भवतीत्यनेनान्वयः। अस्मिन्पक्षे विहितादित्यस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादि. अत एवेति. यतस्ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते, अतो हेतोरित्यर्थः। एवं दृष्टान्तेन त्रिरूपत्वमुपपाद्योपसंहरन्ति, यथा जलमिति. सर्व जगत्, शक्ता तीर्थरूपा, देवी आधिदैविकरूपा मूर्तिमती गङ्गा. ननु साधनरूपसेवाद्वयतः संसाररूपाहन्ताममतात्मकदुःखस्य निवृत्तिरनभिलषितमप्युभयविधब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं स्वत एव भविष्यतीति किं सोपपत्तिकोपपादनेनेत्यत आहुः तत्रापीति. उक्तोभयविधज्ञानेपि. एतद्वक्ष्यमाणप्रकारकं ब्रह्मात्मकत्वेन शाब्दं प्रपञ्चज्ञानम्। इहेति. निमित्तसप्तमीयम्। तथा चैतज्जन्मार्थं निरूप्यत इत्यर्थः। जगदीतीति. तुशब्देन ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाते प्रपञ्चे त्रिगुणात्मकत्वं व्यावर्तितम्। तत इति. यतो हेतोस्त्रिगुणात्मकं जगत्।

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति. तत्राप्येतदिहोच्यत इति. तत्रापि साधर्म्येपि. एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तरतम्यम्। इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्ते गङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः। जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये. क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति.

जगतो रूपं त्रिविधम् तथा तत्रत्यत्रिविधानां देवता उपास्याः ब्रह्मादयः त्रयः प्रोक्ताः, तत्तच्छास्त्रे निरूपिताः। देवतेति स्त्रीलिङ्गप्रयोगात् तेषामस्वातन्त्र्यं द्योतितम्। तेन तत्तदुपनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः। (ते तु प्राकृतानामेव नियामकाः, न तु ज्ञानिनामपीत्याहुः ब्रह्मणीत्थमिति)। ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव. (तर्हि भक्तानामपि लोकमध्यपातित्वात्तन्नियामकत्वं ब्रह्मादीनां कुतो नेत्यत आहुः कामचार इति. लोके तेभ्य एव कामचारः, त एव नियामका इत्यर्थः। न चान्यतेति. प्रकारान्तारेण नेत्यर्थः। भक्तेषु विशेषमाहुः परमानन्दरूप इति)। ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे जलादिषु श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः। सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः। अथवा. भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः। (ब्रह्माद्यपेक्षयात्र विशेषः ‘परमानन्दरूप’ पदेनोक्तः। एतावदुक्तस्य फलितार्थमाहुः अत इति. अत उक्तरीत्या सर्वापेक्षया श्रीकृष्ण एव भक्तिमार्गे भजनीय इत्युक्तम्, अतो हेतोस्तत्र बुद्धिर्विधीयताम् क्रियतामित्यर्थः। ननु कीदृशी बुद्धिरीति चेत्, तत्राहुः ब्रह्मवादेनेति. ब्रह्मवादे हि परब्रह्मणः साकारत्वं प्रतिपाद्यते, अतस्तदुक्तपरब्रह्मत्वेन श्रीकृष्ण एव बुध्यतामिति भावः। तथात्वं दामोदरीलायां श्रीशुकेन स्फुटमेवोक्तं, “न चान्तर्न बहिर्यस्ये”ति “त्रय्या चोपनिषद्भिश्चे”त्यादिना. तेन ब्रह्मवादो भक्तिमार्गे अनुभवसाक्षिक इति निरूपितं भवति. अत एव तुशब्देन निराकारवादो व्यावर्तितः॥११॥

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

ततो हेतोः। रूपवदिति. यथा जगतो रूपं त्रिविधम् तथा तदुणाभिमानिन्यो देवताः तिस्रः प्रोक्ताः। यदा तु ब्रह्मात्मकत्वेन जगत् ज्ञायत्, तदा ब्रह्मणि इत्थं तद्देवत्वेन हरिः पुरुषोत्तमो मतः शास्त्र उक्तः। इति मूलव्याख्या. त्रिस्वभावत्वेनेति. राजसादिस्वभावत्वेन. तेन त्रिस्वभावत्वेन हेतुना. ब्रह्मणीत्यस्यार्थमाहुः ब्रह्मेति. तन्निष्ठानां ब्रह्मैकनिष्ठानाम्। एतन्निरूपणफलमाहुः मूले कामचार इति. अस्मिन् लोके कामचारः, स ब्रह्मादिभ्य एव, न प्रकारान्तरेणेति लोकनिष्ठानां व्यवस्था, भगवन्निष्ठानां व्यवस्थामाहुः परमानन्द इति. एतस्यार्थमाहुः शीकायां ये त्विति. स्वात्मविषय इति. स्वात्मपदस्य स्वात्मीयपरत्वम्। कामचार इति. कामचारनिश्चय इत्यर्थः। लक्षणानङ्गीकारेण पक्षान्तरमाहुः अथवेति. अस्मिन्पक्षे आत्मपदं कृष्णविशेषणम्। तत्प्रार्थने “त्वदुच्छिष्टं भोज्य”मित्यादिभगवत्प्रार्थने. यतो हेतोर्ब्रह्मैकनिष्ठानामेव व्यवहारो ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति, अतो हेतोः सर्वं पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतमक्षरं ब्रह्मैवेति ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यमित्यर्थमाहुः मूलेअतस्त्विति.

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहः आत्मनीति.

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रो व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।

गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति॥१३॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा-तथा॥१४॥

अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।

लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥

क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः। जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्यायान्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारमापद्यन्ते. इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम्। अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः। व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते. न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च. उपाधिनाश इति. तेषां मध्ये यं जीवयेनप्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्भूवति, तत्प्रकारकगुरुपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधैर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधन प्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्भूवति, तत्प्रकारकगुरुपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधैर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

अथेति. ब्रह्मावबोधप्रकारनिरूपणानन्तरं प्रसङ्गसङ्गत्या जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं अहंममतानिवृत्तिप्रकारं च निरूप्यते, पूर्वं तु प्रपञ्चस्वरूपं ममतानिवृत्तिप्रकारश्चोक्तः। तदात्मकत्वमिति. अक्षरात्मकत्वम्। इदमेवेति. अज्ञानजनकत्वमेवेत्यर्थः। तत्कृतमिति. अविद्यया जीवत्वं ब्रह्मणि जन्यत इति नार्थः। चित्प्रधानब्रह्मांशतया जीवस्यावच्छेद्यत्वात्। येन प्रकारेणेति. कर्मज्ञानभक्तिमार्गोक्तप्रकारेण. अविद्यालक्षणोपाधैरिति. स्वरूपाज्ञानादिपञ्च मूलाविद्याकार्यभूताविद्यालक्षणमभिज्ञापकं यस्य. अविद्यात्मकस्य मूलाविद्यात्मकस्य. तथा कृष्णमित्यस्यार्थमाहुः तस्मिन्निति. पुरुषोत्तमाविर्भावे जाते सतीत्यर्थः। तं लीलाविशिष्टं पुरुषोत्तमं पश्यतीत्यर्थः। इदमेव निवेदनाङ्गभूतं दर्शनं ज्ञेयम्। तस्य विज्ञाने जाते स्वात्मनि पुरुषोत्तमदर्शनवतः।

१. न तु ब्रह्मधर्मबाधनार्थमितिपाठः।

प्रकार्षेण पश्यतीत्यर्थः। तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवति न तदतिरिक्तमपेक्षते. भजनोपयोग्यार्थपेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिददुःखी भवति. एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः। (गङ्गातीरस्थित इति. यद्वद् यथा गङ्गातीरस्थितस्तत्र प्रवाहमध्ये देवतामाधिदैविकीं ता पश्यति तथा ज्ञानी स्वस्मिन् आत्मनि परं ब्रह्म कृष्णं पश्यति, परं भक्त्येति विशेष उभयत्र ज्ञातव्यः। तदभावे तु दर्शनमपि दुर्लभम्, कुतस्तरां भजनमिति भावः। “भक्त्या या दृश्यते क्वचि”दिति पूर्वमुक्तत्वात् “भक्त्याहमेकया ग्राह्य” इति प्रभुवचनाच्च. ननूक्तप्रकारकज्ञानाभावेपि लोके भजनं दृश्यते, तत् कथमितिपेक्षायामाहुः संसारेति)। यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरुपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्यापुरुषोत्तमाविर्भावाभावात्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति तथा अयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यार्थपेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभागभवतीत्यर्थः। तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः। अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलित्यतीति ज्ञेयम्। (तेन प्रवाहभक्तिमार्गीयोऽयंनिरूपितः, अन्यथा मध्येऽनङ्गीकारः, तेन भजनप्रतिबन्धादिकं न स्यात्। ननु पुष्टिमार्गं परित्यज्य किं तत्कथनेनेत्याशङ्क्याहुः तस्मादिति. यस्मात् प्रवाहस्थभक्तेऽप्येवमङ्गीकारः प्रभोः, यज्जन्मान्तरेपि तं न त्यजति, तस्माद्धेतोः श्रीकृष्णमार्गस्थः पुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतोपि मुक्तो भिन्नो विशिष्टश्चेत्यर्थः। सर्वपदात् ज्ञानितः प्रावा-

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

तदतिरिक्तं भगवदतिरिक्तम् व्यवहार्यं वस्तु. अर्थपेक्षायां जलाद्यपेक्षायाम्। प्रभुणैव प्रभुरेव लीलासृष्टिविशिष्टप्रचुरलीलासृष्टिस्थपदार्थान् प्रकटयतीत्यर्थः। अक्षरात्मकाधिष्ठानभूतजलाभावेपि पुरुषोत्तमात्मकलीलासृष्टिस्थजलाविर्भावो भवतीत्यर्थभावप्रयुक्तं दुःखं कदापि न भवतीत्यर्थः। एतदिति. वक्ष्यमाणैतद्विभागज्ञापनाय संसारी यस्त्विति दृष्टान्तः। यस्त्विति. तुशब्देन लीलासृष्टिविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भाववतो व्यावृत्तिः। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन अक्षरत्वेन च प्रपञ्चज्ञानवान् प्रपञ्चासक्तः। स त्विति. इदं पदं ‘क्लेशभागभवती’त्यनेन सम्बध्यते. भक्तिमार्गस्थ इति. भजनाकाङ्क्षा प्रतिपादिता. साक्षादिति. सत्यां भजनोपयोगिजलाद्यपेक्षायां कदाचिदधिष्ठानभूताक्षरात्मकजलाद्यभावेन पुरुषोत्तमात्मकजलाप्राप्त्या क्लेशभाक् भवतीत्यर्थः। ननु ब्रह्मभावसम्पत्तिर्हि पूर्वावस्था, सा च सर्वेषां समाना, तत्र च सर्वस्यापि सेवोपयोगियावदर्थप्राप्त्योद्देशहेतुक्लेशभाक्त्वस्य सिद्धत्वात्तेन न सेवासिद्धिः इति चेत्, सत्यमित्याशयेनाहुः तथापीति. अङ्गीकारात् पुष्टावङ्गीकारात्। अङ्गीकार एव शीघ्रं सर्वफलसाधक इत्यदोषः। अङ्गीकारे च भजनत्यागाभाव एव मानम्। अनङ्गीकार इति. केवलपुष्टावनङ्गीकारे. मूले तस्मादिति. यतो हेतोरङ्गीकृत एव न दुःखभाक् तस्माद् हेतोः शुद्धपुष्टिमार्गस्थः तद-

हिकभक्ततः, कैमुतिकन्यायेन साधारणलोकतश्चेति ज्ञेयम्। ज्ञानिनः संसाराभावात् संसारिणो ज्ञानाभावेन दुःखभाक्त्वम्। पुष्टिमार्गीयस्य प्रभुस्वरूपं ज्ञात्वा सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं स्वाम्भभावेन भजनं स्वप्नेपि दुर्लभम्। पुष्टिमार्गीयस्य प्रभ्वनुग्रहैकनियम्यत्वात् सर्वमुपपद्यत इति ततो वैशिष्ट्यम्। एतावत्सर्वं श्रीकृष्णमार्गस्थपदेन द्योतितम्। अतः सर्वमवदातम्। ननु वित्ताद्यभावे पुष्टिमार्गीयस्यापि भजनासम्भवे दुःखित्वात् कथमुक्तवैशिष्ट्यमित्यपेक्षायामाहुः) आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति। श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्याननन्देषु विहरन्तमित्यर्थः। ते तु ब्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव। अत आत्मपदं भगवत्परम् (बहिरसम्भवेप्यन्तरेवं भजेत्। अतो नोक्तानुपपत्तिरिति भावः। ननु कश्चिज्जीविकाद्यर्थमपि भजते, तस्य का गतिरित्यत आहुः लोकार्थीति। लोकपदेन लौकिकोऽर्थ उच्यते, तदर्थं चेत् कृष्णं भजेत्, तदा व्यापारवदर्थे सिद्धे तस्याप्यनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव। अतः क्लिष्टो भवतीत्यर्थः। न केवलमैहिकः क्लेशः, किन्तु परलोकोपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति सर्वथेत्युक्तम्। यस्य स्वल्पमपि ज्ञानम्, स नैवं करोति, सर्वथा तद्रहितः कश्चिदेवं कुर्यादपीति चेदित्युक्तम्। अत्र मूलनामोक्तिर्भजनकर्तुरभिप्रायेण, अन्यथा तदसम्भवात्। तर्हि लोकार्थित्वाभावेपि तद्रहितस्य भजनासम्भवात् को विशेष इत्यत आहुः क्लिष्टोपीति। लौकिकार्थाभावेन क्लिष्टोपि गीतायां नवमेऽध्याये “पत्रं पुष्पं फलं तोय”मिति वचनात् कृष्णं चेत् भजेत्, तदा यथासम्भवं भजनमर्थादेव सिध्यति, परं लोको नश्यति। लौकिकं न सिध्यति, न तु स्थितं नश्यति, भजनसिद्धौ न तावता कापि हानिरिति भावः। भगवतस्तथेच्छेति सर्वथेति निरूपितम्। चेदिति तथा भजनमशक्यमिति ज्ञापनाय) ॥१३-१४-१५-१६॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः।

श्रीरघुनात्मजश्रीब्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

धिष्ठानापेक्षारहितः तथाविधं कृष्णमेव विशेषेण चिन्तयेदिति सम्बन्धः। श्रीकृष्णेति। रसात्मकनामोक्तेः। पुष्टीति। पुष्टिमार्गीयभक्तेषु प्रकटिता ये स्वरूपात्मकास्तथाविधा आनन्दास्तेषु भक्तेषु प्रकटितः। तद्दत्त इति। भगवद्दत्तः। अत इति। तथाविधानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वादेव। ज्ञानमार्गे एव जीवनन्दसम्भवात्। अनेन चिन्तनरूप आत्मनिवेदनाङ्गभूतः स्नेह उक्तः। मूले लोकार्थीति। प्रपञ्चत्वेनैव प्रपञ्चज्ञानवान् लोकार्थीत्यर्थः। स यदि लौकिकार्थेनैव कृष्णसेवां कुर्यात्, तदा सेवाया असिद्धया तथा भवतीति। तादृशोपि चेद्भजेत्, तदा लोको नश्यति। लोकः अक्षरत्वेन ज्ञातो भविष्यतीत्यर्थः।

स्वस्वरूपेति। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन स्वस्वरूपाज्ञानं, तत्राधिष्ठितत्वेन च प्रभुस्वरूपाज्ञानं ज्ञेयम्। पुष्टिमर्यादिति। अत्र पुष्टौ मर्यादांशः। स्वल्पमर्यादायां च पुष्ट्यं-

उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति।

ज्ञानभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥

(पुष्टिमार्गी पूजोत्सवादिषु तिष्ठेत्, पुष्टिपुष्टिमार्गे पूजापदं तस्य ज्ञानाभावात् प्रथमप्रवृत्तिभिप्रायेणोक्तम्। मनसस्तन्निष्ठितायां कृतिर्थादेव सिध्यतीति तत्कुर्यादित्यनुक्त्वा तत्र तिष्ठेदित्युक्तम्। मर्यादायां प्रकारान्तरमाहुः मर्यादास्थ इति। गङ्गायां गङ्गासमीपे श्रीभागवततत्परस्तिष्ठेदिति पूर्वेण सम्बन्धः। उभयोरन्यतरधर्मव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः। तत्र भेदकं किमित्याकाङ्क्षायां) पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति। तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा। तस्य विधिर्न नियामक इति भावः। मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति। यदि मर्यादायामेवाङ्कीकारः, तदोभयोर्भक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः। एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानादिक इति। लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति। तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्। ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च। एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये। गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। तस्य अक्षरातीतत्वात्। अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः

श्रीरघुनात्मजश्रीब्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

शस्तथेति ज्ञेयम्। उभयोरिति पूर्वोक्तयोस्तयोः। ज्ञानाभाव इतीति। अनेनोद्वेगनिवृत्त्युपाय उक्तः। ज्ञानिभक्ताविति। ज्ञानी च भक्तश्च ज्ञानिभक्तौ। तत्र ज्ञानी ज्ञानमार्गप्रकारेण प्राप्तज्ञानः। अनुगृह्णाति विशेषत इति। मर्यादात्यागपूर्वकमनुग्रहं करोतीत्यर्थः। तन्मार्गीयमिति। पुष्टिमार्गीयां। भक्तिमिति निवेदनाङ्गभूतं स्नेहं प्रेमलक्षणां भक्तिं वा। इदमेव मूले पूर्वोक्तपदेन ग्राह्यम्। क्रमेणैवेति मूले। क्रमस्त्वत्र विशेषाङ्गीकारेणैव मानससेवारूपफलसिद्धिः। एवकारेण विशेषाङ्गीकाररूपक्रमाभावे तु न फलसेवासिद्धिः। तदा मर्यादाप्रचुरस्य श्रीभागवततत्परस्य गङ्गासेविनोऽक्षरसायुज्यम्। पूजोत्सवादितिस्थितपुष्टिमार्गीणश्च पुरुषोत्तमसायुज्यमिति स्वगर्भकृतोर्थो ज्ञेयः। तमेव चार्थं प्रकाशयन्ति भक्तजनवाञ्छाकल्पतरुश्रीमद्वल्लभतनयश्रीविट्ठलचरणास्तदोभयोरित्यादिना। उभयोरिति। उभयोर्मर्यादापुष्टिस्थज्ञानिभक्तयोः। मर्यादायामेवेति। एवकारः पुष्टिभेदव्यवच्छेदकः। एवं निरूपण इति। गङ्गादृष्टान्तेन भक्तिमार्गनिरूपणे। तात्पर्य-

स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये. गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः। न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्। न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति. अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति “यो मामेवमसम्मूढ” इत्युपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेने”ति प्रभुक्तवान्। अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम्। ऋग्वेदेपि पठ्यते “तमु स्तोतारः पूर्वं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन. आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे”. हे स्तोतारो भगवदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्वं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः। ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्। स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा. जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णं, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तनं पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति. तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते. भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्जानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु. अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु. एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम्। चिदिति. चिदित्युपलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः। नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि. ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे. स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति. तेजोरूपमित्यर्थः। स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति. एवमेव ‘तद्विष्णोः’ ‘तद्विप्रास’ इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठुक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति॥१७-१८-१९॥

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

मिति. ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यज्ञापनरूपम्। गङ्गायामिति. आधिभौतिकादिभेदेन गङ्गायां क्षरादिदृष्टान्तः स्पष्टः। ननु जलतीर्थात्मिके गङ्गा, न तु तदतिरिक्ता देवतारूपेति कथं गङ्गादृष्टान्त इत्यत आहुः महीति. किंत्विति. इदंपदं भक्तत्वमित्यनेन सम्बध्यते. तदातीतेति. जलतीर्थात्मिकातिरिक्ता तद्दर्शनं भक्तत्वं भवति, भक्तत्वं अभिज्ञातं भवतीत्यर्थः। तथाच भक्त्यभिज्ञापिकत्वरूपादेवीति फलितार्थो ज्ञेयः।

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति.

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।

अन्यथा भावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।

एतद्बुद्धा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः। एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति (सप्रयोजनमुक्तमुपसंहरन्ति एवमिति. उक्तप्रकारेण स्वशास्त्ररूपं स्वशास्त्रस्य वा सिद्धान्तरूपसर्वस्वं गुप्तं स्वल्पेन बहु निरूपितत्वात् गम्भीरतात्पर्यं बहिर्मुखानामज्ञापनीयं वा. किं तेनेत्यत आहुः एतदिति. एतज्ज्ञानेन स्वमार्गसम्बन्धिसर्वसंशयनिवृत्तिर्भवति, अन्यथा ‘संशयात्मा विनश्यती’ति बद्धिरन्यथा भवेदित्यर्थः)॥२०-२१॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत्।

श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ॥१॥

श्रीरघुनात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

तात्पर्यान्तरमिति. पूर्वं ‘ज्ञानधिक’ इत्यनेन भक्तेर्ज्ञानाधिक्यरूपं तात्पर्यमुक्तम्। अनेन भक्तेरावश्यकत्वरूपं तात्पर्यमुच्यते. भक्त्यभाव इतीति. तीर्थात्मकत्वेन जानन् तीरस्थितोपि भक्त्यभावे दुष्टैः कर्मभिः अन्यथाभावं जलत्वेनैव ज्ञानवान् तस्मात् स्थानात्तीर्थत्वज्ञानादेव नश्यतीत्यर्थः। तथा भवतीति. अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानवानपि दुष्टैः प्रारब्धैः स्वकर्मभिरन्यथाभावं प्राप्तः प्रपञ्चत्वेनैव जानन् तस्मात् स्थानात् ब्रह्मात्मकत्वज्ञानान्नश्यतीत्यर्थः। न च ज्ञानेन सर्वपापक्षयात् कथमन्यथाभावो वक्तुं शक्य इति शङ्क्यम्। ज्ञानस्यानारब्धानामेव कर्मणां नाशकत्वात्। प्रारब्धकर्मणां नाशस्तु पुष्ट्यैवेति सिद्धं भक्तेरेवावश्यकत्वम्। एवमिति. पूर्वोक्तप्रकारेण. स्वशास्त्रेति. स्वशास्त्रस्य सेवाप्रकाररूपं सिद्धान्तम्। गुप्तं निरूपितमिति. गुप्ततया निरूपितम्। एतदिति. यन्मया गुप्तं निरूपितम्। एतद्बुद्धा विमुच्येत. सर्वसंशयाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः। पुनः कदापि संशयं न प्राप्नोतीति विशब्दार्थः।

इति श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी.

सिद्धान्तमुक्तावली।

दीक्षितश्रीलालभट्टकृतव्याख्यासमेता।

श्रुत्येकसिद्धश्रृङ्गारमूर्तिमानन्दविग्रहम्। गोवर्धनधरं वन्दे श्रीराधाप्राणवल्लभम्॥१॥

नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभूच्छ्रीविट्ठलेश्वरान्। यत्कृपातो ब्रजाधीशसेवनं प्राप्नुयान्नरः॥२॥

अथ सकलसच्छास्त्रसारज्ञाः श्रीवल्लभाचार्यचरणा दैवजीवानामज्ञाना न्यथाज्ञाननिष्ठानां भगवत्सेवनाप्रवृत्तिं तथा च तदकृतार्थतामवलोक्य परमकृपालवस्तज्जनुस्साफलयाय श्रुति गीताव्याससूत्रसमाधिभाषासिद्धं स्वसिद्धान्तं निरूपयन्ति नत्वा हरिमित्यादिना।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥

कृष्णसेवेति. “दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः” “नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः” “मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुरि” त्यादिवचस्सहस्रैः सेवाया मोक्षदप्युत्कृष्टत्वेन परमपुरुषार्थत्वम्। अतः सैव कार्या। तत्र कीदृशी सेवा विवक्षितेति तामाहुः मानसी सेति. यथा मर्यादाभक्तिमार्गे मुक्तिः फलं, तथात्र सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा मानसी फलमित्याशयः॥१॥

सेवा लक्षयन्ति चेतस्तत्प्रवणमिति.

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥

तच्छब्देन पूर्वोक्तः कृष्णः परामृश्यते, “पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहे” त्यादाविवैकदेशान्वयस्वीकारात्। तथाच कृष्णप्रवणं चेतः सेवा. “देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या. अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी”ति लक्षणवाक्ये मनोवृत्तेरेव भक्तित्वेन कथनाद्वृत्तेश्च कारणानतिरेकात्। अतस्तादृशी चित्तवृत्तिर्मानसी सेवेति फलितम्। अत एव चेतस्तत्प्रवणमित्यस्याभासे श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तं यथेत्यारभ्यैतदेव सेवास्वरूपमित्याहुरित्यादि. अत एवाथर्वणे “भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनाैराश्येन मनःकल्पनमि”ति श्रूयते. अत्रापि मनसः कल्पनं भक्तिरित्युक्त्या तादृक्चित्तस्यैव भक्तित्वमायाति. भक्तिमीमांसासूत्रेपि “सा परानुरक्तिरीश्वर” इति लक्षणेन चित्तधर्मस्यानुरागस्यैव भक्तित्वमुक्तम्। धर्मधर्मिणोर्भेदत्। भक्तिशब्देन च सेवैव विवक्षिता. “भज सेवायामि”ति धात्वर्थात्। “विना मत्सेवनं जना” इत्युक्त्वा “स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत”

इत्युदीरितत्वाच्च. पूर्वमपि “अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तम” इत्युक्तम्। अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवैवायाति सा केन साधनेन सम्पद्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्सिद्ध्यै इति. “गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया” “तव परि ये चरन्ति” “आदरः परिचर्यायाम्” “श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्” “करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु” “शावौ करौ नो कुरुतः सपर्याम्” “करौ च तत्कर्मकरौ मनश्चे”त्यादिवाक्यैस्तनुजसेवायाः “सर्वलाभोपहरणमि” त्यादिवचोभिर्वित्तजायाश्च “तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः। नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः” “मुकुन्दसेवोपाधिकं स्पृहा हि न” इत्यादिवाक्यैरुभयोश्च तथात्वावगतेः। इह ग्रन्थे विधेयांशः सेवा, शिष्टो ग्रन्थस्तदुपपादनार्थः। ननु “ब्रह्मविदाप्नोति परमि”ति श्रुत्या पुरुषोत्तमप्राप्तौ ब्रह्मवित्तस्य कारणत्वोक्तेर्ज्ञानमवश्यं सम्पादनीयम्। तच्च वेदान्तश्रवणमननादिसाध्यम्। तानि च बहुकालसाध्यानि. इह तु सदा कृष्णसेवा कार्येत्युपदेशादवकाशाभावान्मननादिसाधनासिद्धेर्ज्ञानासिद्धिरित्याशङ्क्योत्तरं ब्रुवन्ति ततः संसारदुःखस्येत्यादि. ततस्तनुवित्तजसेवात एव संसारदुःखस्याज्ञानकार्यस्य नाशो, ब्रह्मज्ञानं चावान्तरफलं भवति. “मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते. स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पत” इति वाक्यात्। “इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विर्क्तिर्भगवत्प्रबोध” इत्यादिवचनाच्च. अत एवोक्तं तत इत्यस्याभासे टीकायां श्रीमत्प्रभुचरणैरेतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुरित्यनेन॥२॥

ज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो रूपभेदानभिदधतः कृष्णे मूलरूपत्वं वदन्ति परं ब्रह्म त्विति.

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥३॥

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।

मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥४॥

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।

द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्येयं सा जलरूपिणी॥५॥

माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥

“कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत” इति निर्वचनात्। इयं हि श्रुतिरेव. नारायणकृतौ गोपालपूर्वता पिन्युपनिषद्दीपिकायाम्-तत्रादौ कृष्णशब्दार्थनिर्णयमाह-कृषिर्भूवाचकः शब्द इति. कृष् विलेखने. कृष्यते विलिख्यत इति कृष् भूमिः। सत्। णश्च निर्वृतिवाचक इति. निर्वृतिरानन्दः सुखम्।

१. आगतेति पाठः। २. स्यादिति क।

शुद्धं ब्रह्मेति यावत्-एवमियं श्रुतिर्व्याख्याता. ततः “सच्चिदानन्दाये”ति

श्रुतिव्याख्याता. अतः “कृषिर्भूवाचकः शब्द” इति गोपालतापिन्यारम्भेऽस्तीति बोध्यम्। “परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती”त्यादिश्रुतेश्च. “यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः” “मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये”ति भगवद्वाक्याच्च. तुशब्देनाक्षरस्य ब्रह्मत्वेपि परत्वाभावात् परस्य पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वम्। अनेन पूर्वोदितः कृष्णसेवाविधिः समर्थितः। सच्चिदानन्दकमिति. बृहत् अक्षरं ब्रह्म सच्चिदानन्दकम्। अल्पार्थं कन्। “ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द” इति तैत्तिरीये गणितानन्दत्वात्। तदक्षरं द्विरूपमित्याहुः द्विरूपं तद्धीत्यादि. एकं सर्वं निखिलप्रपञ्चात्मकं कार्यरूपम्। अपरं तस्मात्पूर्वस्माद्विलक्षणं प्रापञ्चिकधर्मरहितं “अस्थूलमनण्वि”त्यादिश्रुतिविषयः, “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” “यो वेद निहितं गुहायाम्” “सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्” “तदाहुरक्षरं ब्रह्म” “तद्धाम परमं ममे” त्यादिश्रुतिस्मृतिविषयश्च. इदं तु ब्रह्मणो भौतिकं प्रपञ्चात्मकं रूपं नाशोत्पत्तिमत्त्वेन भासमानत्वान्मायिकं सगुणमित्याद्यज्ञानविलासैर्विकल्प्यते. वस्तुतस्तु “स हैतावानास” “स आत्मानंस्वयमकुरुतु” “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” “यदयमात्मा तत्सत्यम्” “सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपसीत” “कथमसतः सज्जायेत” “सत्त्वाच्चावरस्य” “असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्” ‘पटवच्च’ “नाभाव उपलब्धेः” “आत्मकृतेः परिणामादि” त्यादिश्रुतिन्यायशतैरक्षरात्मकमुरीकार्यम्। तत्र नाशोत्पत्तिप्रतीतिभ्रान्त्या. आविर्भावतिरोभाववत्त्वेन नित्यत्वात्। ननु “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि”ति श्रुत्या विकारभूतस्य प्रपञ्चस्य कुतो न मिथ्यात्वमिति चेत्। न. “तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य” इति सूत्रेण वाचारम्भणमित्यादिशब्दानां प्रपञ्चे ब्रह्मानन्यत्वप्रतिपादनार्थताया निर्णीतत्वात्। अपि च. घटे मृद्विकारत्वमिव प्रपञ्चे ब्रह्मविकारत्वं नास्ति. अविकृत परिणामवाद स्वीकारात्। यत्र हि कार्यस्य पुनः पूर्वभावापत्तिः सोऽविकृतपरिणामः। यथा कनककुण्डलस्य पूर्वभावापत्तिः कर्तुश्चिकीर्षया तथा प्रपञ्चस्यापि चिदानन्दप्राकट्ये पूर्वभावापत्तिः। अतो विकारत्वाभावाद्वाचारम्भणश्रुतेर्न प्रपञ्चे प्रवृत्तिः। किञ्च. मायिकं जगदिति वदन् वादी प्रष्टव्यः कथमसत्प्रतीयत इति. शुक्तौ रजतमिवेति चेत्। न. चक्षुषोपलभ्यमानायां हि शुक्तिकायां रजतभ्रान्तिः। ब्रह्मणस्तु “पराञ्चि खानी”ति श्रुत्या सकलेन्द्रियागोचरत्वेन न तदधिष्ठानकभ्रमसम्भावनापि. भ्रमोत्पत्तेः सादृश्यसापेक्षत्वेन ब्रह्मप्रपञ्चयोः सादृश्याभावाद्ब्रह्माभावः। न हि रज्जौ भुजङ्गभ्रम इव रजतभ्रमोऽपि सूपपादः। सादृश्याभावात्। ननु नीरूपत्वेन चक्षुरगोचरोऽपि व्योम्नि सादृश्यानपेक्षो नीलमिदं गमनमिति भ्रमो भवत्येव, अज्ञानकलुषितबुद्धीनामिति चेत्, न. श्रुणु. तत्र हि नभसो मनोगोचरत्वेन व्यवहारविषयत्वाद्भ्रमोद्भूतिः सम्पद्यते. ब्रह्मणि तु निर्विशेषे भ्रमो नास्त्येव. “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे” ति श्रुतेर्मनोवागोचरत्वेन सर्वथा ज्ञानाविषय

भ्रमस्योपपादयितुमशक्यत्वात्। भवन्मते निरुपाधिके ब्रह्मणि सर्वथा ज्ञानाविषयत्वमिति। विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तेः स्वीकारात्। नन्वारोपे ह्यधिष्ठानसामान्यज्ञानं कारणं, न तु विशेषतो ज्ञानम्। अहं वित्तौ भासमानस्यात्मनो भवत्येव सामान्यज्ञानमिति चेत्, न. उपाध्यवच्छिन्नस्यैवाहम्प्रत्यये भासमानत्वात्। एवं सत्यात्मनो निरुपाधिकस्य ज्ञानाभावान्न अत्र जगदारोपः सम्भवतीति विद्वद्भिर्ज्ञेयम्। केचित्तु निषेधमुखेन ज्ञानं सामान्यज्ञानमित्याहुः। तन्न. शास्त्रोत्पाद्यस्य तस्यासर्वजनीनत्वे मूर्खाणां जगत्प्रत्ययाभावप्रसङ्गात्^१ सर्वव्यावृत्तताज्ञानस्य त्वधिष्ठानविशेषज्ञानत्वेन प्रत्युत भ्रमनिवर्तकत्वाच्च. न च कस्यचिद्गनज्ञानाभाववतोऽपि बालदेर्गगने नीलिममानान्नाधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य भ्रमकारणत्वम्। तथा सति निर्विशेषस्याधिष्ठानस्य सामान्यज्ञानाभावेऽपि तदधिष्ठानको जगद्भ्रमः स्यादेवेति वाच्यम्। इदं किञ्चिन्नीलिमित्याकारकस्य किञ्चित्त्वेन रूपेणाधिष्ठानज्ञानस्य तत्रापि सत्त्वात्। अन्यच्च. यद्यधिष्ठानज्ञानरहितस्यापि नीलिमप्रतीतिरङ्गीक्रियेत, तदा तत्प्रतीतेर्भ्रमत्वमेव न स्यात्। नीलिमज्ञानस्य सर्वदा सर्वेषां जायमानत्वादुपाधिजन्यत्वाभावेनोपाधिनाशनाशयत्वाभावाच्च. मायिकस्य नीलरूपस्य विद्यमानस्यैव विषयत्वेन तदवगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वायोगात्। न च तस्यानिर्वचनीयत्वं, सदसद्भिन्नतयेति वाच्यम्। नीलिमः सर्वदैव विद्यमानत्वेन प्रतीतिविषयतया ज्ञानबाध्यत्वाभावेन गगनवत्स्थिरतयाऽनिर्वचनीयकल्पनायाः प्रवेशानवसरात्। अधिष्ठानभूतं गगनमनवगाह्यैव इदं नीलमिति प्रत्ययात्। गगनस्य नीरूपत्वानीलरूपारोपे भ्रमत्वस्य सुवचनत्वात् तथा गगनं नीलमिति प्रतीतावेव भ्रमत्वं न तु केवलं नीलमिदमिति प्रतीतौ। तत्र गगनावगाहाभावात्। तदभाववति तदारोपाभावात्, प्रतीतिविषयतया ह्यसत्त्वस्यापि भवन्मतेऽनङ्गीकारात्। अतः सत्त्वमेवोपरीकार्यं स्यात्। तथा सति तदवगाहिज्ञानस्य प्रभात्वमेवापद्येत. अत एतद्दूषणपरिहृतयेऽधिष्ठानस्य वियतः केनचिद्रूपेण ज्ञानं बालादीनामप्यस्तीति मन्तव्यम्। तथा च यदा शास्त्रसमुत्पन्नबुद्ध्या नीरूपत्वेन केनचिद्रूपेण ज्ञानं बालादि नामप्यस्तीति मन्तव्यम्। तथा च यदा शास्त्रसमुत्पन्नबुद्ध्या निरूपत्वेन वियतो ज्ञानं समभूत, तदा रूपरहिते वियति नीलरूपस्यासम्भवं जानन् नीलिमानमसन्तमेव निश्चिनोति. एवं बाधविषयत्वेन सत्त्वाभावादविद्यमाननीलरूपावगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वं सुवचमिति सन् पन्थाः। एतावता सिद्धमेतत्। अधिष्ठानसामान्यज्ञानं भ्रममात्रे कारणम्। तथा सति परमतेऽधिष्ठानत्वेनाभिमतस्य निर्विशेषब्रह्मणः केनापि प्रकारेण ज्ञानविषयत्वाभावान्न तस्मिन्निष्ठाने भ्रमः सम्भवतीति दिक्। यद्यपि सत्तारूपेण सर्वत्र तदस्ति, तथापि न ज्ञातुं शक्यम्। घटः सन् पटः सन्नित्यादौ तु न निर्विशेषरूपा सत्ता प्रतीयते, अपि त्वधिष्ठेयनिष्ठसत्ताया एव प्रतीतिरिति भ्रमोऽधिष्ठानरूपब्रह्मणि निरूपयितुमशक्य एवेति प्रपञ्चमिथ्यात्वं विद्वद्भिर्नार्दतव्यम्। किञ्च. जगदभिपश्यतः परमेश्वरस्यापि भवन्मते भ्रान्तत्वापातः। भ्रमप्रतिपन्नस्य रजता-

१. जगत्प्रतीत्यभावेति ख. २. सुवचत्वादिति स्यात्।

देर्भान्तेनैवाध्यक्षीकरणात्। “वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि”ति तत्त्वसूत्रे आदिशब्देनासत्त्व प्रतिपादकानां सर्वेषामेव निषेधात्प्रपञ्चसत्यमेवाभिप्रेतं व्यासचरणानम्। “असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरमि”ति जगदसत्यत्ववादिनां भगवता निन्दितत्वाच्च. अन्यच्च. ब्रह्मणो यथार्थज्ञानं हि जगद्भ्रमं निवर्तयति, शुक्तिबोधो रजतभ्रममिव. तच्च मननादिजन्यत्वेन प्रपञ्चमध्यपातितया नाज्ञानरूपं प्रपञ्चं दूरीकर्तुमीष्टे. यावज्ज्ञानानां जगदन्तःपातित्वेनाज्ञानरूपत्वात्। प्रपञ्चोपशामकज्ञानस्योपशान्त्यै साधनान्तरस्य मृत्यत्वाच्च. न च चरमवृत्तिरज्ञानकार्यमखिलं नाशयित्वा स्वयं नश्यति, कतकरेणुवदिति वाच्यम्। चरमवृत्तिजन्यस्याज्ञानध्वंस्यनाशकान्तराभावेनावशिष्टस्य सतयाऽद्वैतसिद्धिव्यघातात्। चरमवृत्तिनाशक्षणस्य विद्यमानतया द्वैतापत्तेश्च. अपि च. चरमवृत्तेर्जगन्नाशं प्रति कारणत्वम्। तच्च कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वम्। पूर्वत्वं तु कालकृतमिति कारणतानिर्वाहकः कालोऽवशिष्यत एव. तथाच चरमवृत्तिः स्वयं नश्यतीत्युक्तावपि कालस्य कारणतानिर्वाहकस्योर्वरितत्वान्नाद्वैतसिद्धिरिति ज्ञेयम्। न च ब्रह्मानतिरिक्तः कालः सुखेनावशिष्यताम्, अद्वैताबाधकत्वादिति वाच्यम्। चरमवृत्तिनाशरूपकार्यपरिच्छेदकालस्य सर्वापरिच्छेदेन ब्रह्मणा सहाभेदस्य वक्तुमशक्यत्वादिति दिक्। न च वृत्तिरूपाणां तथात्वेऽपि “सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्मे”ति श्रुतेः स्वरूपभूतं ज्ञानं प्रपञ्चभ्रमापहारीति वाच्यम्। स्वरूपभूते ज्ञाने प्रपञ्चनाशकत्वाङ्गीकारे निर्विशेषवादबाधापत्तेः। ब्रह्मण्येव प्रपञ्चनाशकत्वपर्यवसानात्। तस्य सर्वदैव विद्यमानत्वेन सदा सर्वेषां बन्धाभावप्रसङ्गाच्च. मननादिविधीनामानर्थक्यापत्तेश्च. मननादिविधीनां तदभिव्यक्तौ साफल्यमिति चेत्, न. तस्मिन्स्वरूपभूते ज्ञानेऽभिव्यक्त्यात्मकधर्माङ्गीकारे धर्मत्वावच्छेदकावच्छिन्ना भाववादहा निप्रसङ्गात्। असत्त्ववादे ब्रह्मणि व्यापकत्वमपि दुरुपपादम्। व्याप्यानाम ज्ञानकल्पितत्वेनापार्थक्यतया तत्सापेक्षस्य व्यापकत्वस्यापि सुतरामवास्तवत्वात्। अस्तु तथात्वमिति चेत्, न. “बृहत्त्वाद्बृहणत्वाच्च ब्रह्मे”ति श्रुतिव्याकोपात्। जगदसत्यत्वे तदन्तःपातिनीनां श्रुतीनामपि तथात्वेन व्यवहारमात्रे प्रामाण्याङ्गीकारात्तदुक्तानां निर्विशेषत्वाज्ञेयत्वनिराकारत्वादीनां पारमार्थिकत्वेन त्वन्मतेऽभिमतानामपि व्यवहृतिमात्रैकसत्यत्वापातात् मनोव्यापार विजृम्भितत्वाच्च. त्वन्मते शुद्धब्रह्मणो मनोप्राप्यत्वेन मनोगम्यस्य ब्रह्मातिरेकादित्यकमुक्तिभिः। यदप्याहुः सच्चेन्न बाध्येत. असच्चेन्न प्रतीयेत. अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं जगदिति. तत्र असच्चेन्न प्रतीयेतेति यदुक्तम्। तन्न. “अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः। तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे” इति मैत्रेयवाक्यात् “छायाप्रत्याह्वयाभासा असन्तोष्यऽर्थकारिण” इति वाक्यान्तराच्च असतोऽपि प्रतीतिस्वीकारात्। अतोऽसत्पदार्थ एव भेदद्वयमस्ति. एकमसन्न प्रतीयते, शशशृङ्गादिवत्। एकमसत्प्रतीयते शुक्तिरजतादिवदिति व्यवस्था. न त्वनिर्वचनीयं कल्पनीयम्। मानाभा

१. लक्षणेति पाठः। २. व्यवहृतिमात्रैकसत्यत्वाभावादिति ख.

वात्। ननु “त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रम” इत्यादिवाक्येष्वसत्यता दृश्यत इति चेत्, न. भ्रमः अज्ञानमसदित्यादिशब्दानामहन्ताममतात्मकसंसारविषयत्वात्। एतच्चाकरे स्पष्टम्। किञ्च. अनादिरयं भ्रम इति प्रवाहोऽपि चिन्त्यः भ्रमत्वस्य ज्ञानत्वव्याप्यत्वात् यावज्ज्ञानानां जन्यत्वनियमात्। न च “बन्धोऽस्याऽविद्ययाऽनादिर” इति वाक्यादनादित्वम्। अविद्यायाः कारणत्वव्याघातापत्तेः।^{॥७३॥} तथाचेह सादित्वनिषेधो घटपटादिसाधारणापेक्षकः। देवेष्वमरपदेन मरणनिषेधवत्। अतः सर्वथा प्रपञ्चभ्रमे अनादित्वकथनमयुक्तमेव. अन्यच्च. ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वमित्याहुः। तन्न. चरमवृत्तिरूपे ज्ञाने ज्ञानबाध्यत्वाभावादव्याप्तेः। चरमवृत्तेः कतकरेणुदृष्टान्तेन स्वत एव नाशाङ्गीकारात्। न चाज्ञानजन्यत्वं मिथ्यात्वमिति वाच्यम्। मूलाज्ञानेऽज्ञानजन्यत्वविरहेण लक्षणाव्याप्तेः। मूलाज्ञानस्य भवत्सिद्धान्तेऽनादित्वाङ्गीकारात्।

प्रकृतमनुस्रियते. ब्रह्मणो रूपत्रयम्। तत्राधिदैविकं परं ब्रह्म कृष्णाख्यं प्रथमम्। आध्यात्मिकक्षरात्मकं द्वितीयम्। आधिभौतिकं प्रपञ्चात्मकं तृतीयम्। तत्र स्पष्टार्थं गङ्गां दृष्टान्तीकुर्वन्ति द्विरूपं चापि गङ्गावदित्यादिना. माहात्म्यसंयुतेति. मर्यादामार्गविधिना सेवतां भोगमोक्षदात्री द्वितीया तीर्थरूपेत्यर्थः।॥३-४-५-६॥

आधिदैविक्याः स्वरूपमाहुः तत्रैवेति.

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्ये।॥७॥

प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले।

विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते।॥८॥

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।

यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते।॥९॥

तृतीये भौतिके रूपे भेदमाहुः जगत्त्विति।

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः।॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा।

परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः।॥११॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।

त्रिविधं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटम्। आधिदैविके अंशभेदानाहुः। ब्रह्मविष्णुशिवाः देवतारूपवत्प्रोक्ता इत्यन्वयः। अत्रायमर्थः। देवताया आधिदैविकरूपाया गङ्गाया रूपाणि अंशभूतानि भीष्मजनन्यादीनि मूर्तिमन्ति तत्तत्पुराणादौ प्रोक्तानि, तद्वद्देवतारूपस्य कृष्णस्य ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणि अंशभूतानीत्यर्थः। तान्येव रूपाणि

१. करणत्वेति पाठः।

राजसादिस्वभावप्रकाशकानि जगतो नियामकत्वेनोत्पत्त्यादौ कार्ये व्यापृतानि॥८॥ तदंशी कृष्णस्तु नित्यनिरवध्यानन्दात्मको गुणातीतो रसात्मकलीलामात्रैकार्थ इति भावः। ब्रह्मविष्णुशिवानां कृष्णांशत्वेन आधिदैविकरूप-भेदमध्ये गणना. “सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते. स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः” “न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते” इत्यादिवाक्यात्। ब्रह्मवैवर्ते स्पष्टमेव त्रयाणां कृष्णांशत्वप्रतिपादनाच्च. अत एव निबन्धे श्रीमदाचार्यचरणैरवादि “गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृता” इति. अग्रे च “अन्तर्याम्यक्षरं कृष्ण” इत्यारभ्य स्वभावकर्मकालश्चेत्यनेनाक्षरभेदानुक्त्वा “रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथे” ति वाक्येन कृष्णभेदा उक्ताः। तथाच सिद्धमेतत्। “द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च. क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत” इत्यत्र क्षराक्षरपुरुषोत्तमा उक्ताः, तेऽत्र “परं ब्रह्म तु कृष्णो ही”त्यारभ्य “देवतारूपवत्प्रोक्ता” इत्यन्तेन प्रपञ्चाक्षरकृष्णशब्दवाच्या विवेचिताः। न च गीतासु त्रयाणां पृथगुक्त्या द्वैतं शङ्क्यम्। “वासुदेवः सर्वमिती”त्यनेन शुद्धाद्वैतस्यैव भगवदभिप्रायविषयत्वस्फुरणात्। ब्रह्मणीति. स्थितानामिति शेषः। यथा जगतो नियामकाः कृष्णांशा ब्रह्मादयः, इत्थमक्षरब्रह्मभूतानां नियामको हरिरेव न तु ब्रह्मादयः। तेषां ज्ञानिनां जगदतीतत्वादिति भावः। कामचारस्त्विति. अस्मिन् क्षररूपे लोके प्रपञ्चे कामचारः तत्फलप्रेप्सया प्रवृत्तानां मनोरथप्राप्तिप्रवाहो ब्रह्मादिभ्यः कृष्णांशभूतेभ्यो भवति. दृष्टान्तेऽपि गङ्गांशभूताया एव लौकिकव्यवहारः स्मर्यते भारते शन्तनुप्रसङ्गे, न तु साक्षादंशवत्या गङ्गाया आधिदैविक्याः सकाशात्। तस्याः केवलभक्तितलभ्यायाः प्रवाहे सर्वदैव विद्यमानत्वात्। ननु लोके कामचारो ब्रह्मादिभ्य इत्युक्ते भक्तानामपि लोकमध्यपातितया तथैव भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषां भिन्नप्रकारमाहुः परमानन्दरूपे त्विति. लोकविशेषणमेतत्। परमानन्दो रूप्यते व्यवहियते यत्रेत्यर्थात्। तुशब्दः पूर्वप्रक्रियां व्यावर्तयति. परमानन्दरूपे लोके लीलायोग्यप्रपञ्चे तु पुष्टिभक्तानां स्वात्मनि स्वात्मत्वेन स्फुरिते कृष्ण एव निश्चयो मनःस्थैर्यं स्वसकलमनोरथपूरकत्वबुद्धिस्वच्छन्दप्रवृत्तिप्रवाहो॥९॥ न तु ब्रह्मादिभ्यः। “ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्” “अहं भक्तपराधीनः” “तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरादि”त्यादिवाक्येषु साधारणेभ्यः पृतक्तया भक्तानां चतुर्विधपुमर्थसाधकत्वस्य स्वस्मिन्नेव भगवताङ्गीकृतत्वात्। एवं साधारणजीवानां पुष्टिस्थानांमंशांशभेदेन कामचारव्यवस्थामुक्त्वा वस्तुतः साधारणानामंशेभ्यो जायमानमपि फलं भगवत एवेति भगवानेव सर्वेषां सर्वफलदायक इति प्रतिपादयन्ति अतस्त्वित्यादिना. वस्तुविमर्शे सर्वस्य कृष्णात्मत्वं तदधीनत्वम्, अतो ब्रह्मवादेन तु कृष्ण एव बुद्धिः फलप्रदत्वबुद्धिर्विधीयताम्। “फलमत उपपत्तेरिति न्यायेन कृष्णस्यैव

१. व्यावृत्तानीति ख. २. स्वच्छन्दवृत्तिरूपः कामचार इति पाठः।

फलदत्वम्। “यो-यो यां-यां तनुं भक्त” इत्यारभ्य “मयैव विहितान् हि तानि”त्यन्तेन स्वस्यैव फलदातृत्वोक्तेश्च.

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः॥१२॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने।

गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति॥१३॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा॥१४॥

अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक्।

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः॥१५॥

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।

लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥१६॥

क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवतत्परः।

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।

ज्ञानधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः॥१९॥

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।

अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।

एतद्बुद्ध्या विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतना इति. आत्मनि आत्मविषये. उच्यत इति शेष इति प्रभुचरणाः। तथाच आत्मनीति प्रतिज्ञायां ज्ञेयम्। ब्रह्मरूपे जीवे छिद्राश्चेतना व्योम्नि छिद्राश्चेतना इवेत्यन्वयः। छिद्राणि विषयत्वेन विद्यन्ते यासु चेतनासु ताः छिद्राश्चेतनाः। अर्शआद्यच्। चेतनाशब्दो बुद्धिवाचकः। “प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतना” इति कोशात्। तथाच छिद्राश्चेतनाश्छिद्रवत्यो बुद्ध्य इत्यर्थः। बुद्धीनां छिद्रवत्त्वं तु विषयत्वेन छिद्राणां तत्र स्फुरणात्। एवच्च व्योम्नि अविद्यमानानां छिद्राणां बुद्धिवृत्तिषु स्फुरणाच्छिद्राश्चेतना विपर्यासबुद्ध्य इति फलितम्। “संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च. स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं

वृत्तितः पृथगि”ति कपिलवाक्याद्विपर्यासस्य बुद्धिवृत्तित्वात्। तत्र दोषविशेषवद् दशा व्योम्नि छिद्राणि प्रतीयन्ते। अतश्छिद्रवत्यो बुद्ध्यो व्योम्नि तथा मिथ्याभूतपदार्थावगाहिन्यः, तथा ब्रह्मरूपे जीवे छिद्राश्चेतनाः सदोषत्वादिबुद्ध्यो मिथ्याभूतसंसारवगाहिन्यो, न तु यथार्थावगाहिन्यः। “जीवसंसार उच्यते” इति निबन्धे संसारस्य मिथ्याभूतत्वेन सिद्धान्तितत्वात्। “उच्यते, न तु जायते” इति व्याख्यानात्। व्योम्नि यथा छिद्राश्चेतनाः तथा जीवे छिद्राश्चेतनाः। पूर्वत्र छिद्रशब्दस्य विवरविशेषवाचकत्वम्, उत्तरत्र तु छिद्रशब्दो दोषवाचकः। “खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यती”त्यादौ दोषाणां छिद्रपदवाच्यत्वात्। तथाच जीवो ब्रह्मांशत्वेन वस्तुतो ब्रह्मरूप एव, न तु संसारी। संसारित्वं त्वौपाधिकम्। तच्च पूर्वोक्तकृष्णसेवानाश्रयमित्यभिप्रायः। इदमेवानुपदमुपपाद्यते उपाधिनाश इत्यादिना। स्वसिद्धान्ते यादृशं जीवस्वरूपं तद्वन्धमुक्तिस्वरूपं च प्रभुचरणैरेतद्वीकायां विवृतमेव “जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मका” इत्यादिनेति न मया लिख्यते। ननु जीवस्याणुत्वं निरूपितं, तन्मास्तु। किन्त्वविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इत्युरीकार्यम्। पूर्वं बहुभिरादृतत्वादिति चेत्, न नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासम्भवात्। न च गुणे गुणानङ्गीकारान्नीरूपस्य रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनादूरपरहितस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बः सुलभ इति वाच्यम्। रूपवतो घटादेः प्रतिबिम्बतया तन्निष्ठरूपप्रतीतौ सिद्धायां पृथग्रूपप्रतिबिम्बतं घटनिष्ठरूपं पश्यन् स्वयं प्रतिबिम्बतमिति रूपं च नीरूपमिति नीरूपस्य ब्रह्मणोपि प्रतिबिम्ब इति मनुषे। तथैव रूपशून्यं रूपं चाक्षुषमिति नीरूपः परमात्मापि चक्षुर्ग्राह्य इति मन्यस्व। ननु नीरूपस्य गगनस्य प्रतिबिम्बान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि स्यादिति चेत्, न जलादावौपाधिकस्य प्रतिबिम्बतरूपस्य दर्शनादौपाधिकेन तेन च वियतः सम्बन्धाभावादाकाशप्रतिबिम्बस्य वक्तुमयोग्यत्वात्। अन्यथा नीलमिदं गगनमितिप्रतीत्या गगनचाक्षुषत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मचाक्षुषत्वमङ्गीकार्यं स्यात्। न च कल्पितरूपवतो जगज्जन्मादिकारणस्य भवत्येव चाक्षुषत्वमिति वाच्यम्। सोपाधिके ब्रह्मणि भवन्मते मायिकरूपाङ्गीकाराच्चाक्षुषत्वप्रतिबिम्बितत्वयोः सुवच्यत्वेऽपि शुद्धे निरूपे ब्रह्मणि द्वयोरप्यसम्भवेन विवक्षितप्रमेयालाभात्। अपि च। चक्षुर्ग्रहणयोग्यस्यैव प्रतिबिम्बसम्भवं जानन्नप्ययोग्यस्य शुद्धस्य प्रतिबिम्बं प्रतिपादयन्नयोग्यस्य चाक्षुषत्वं किमिति न मनुषे। अन्यच्च। अवयवेऽवयवानङ्गीकाराच्चरणरहितयोरपि चरणयोर्गमनदर्शनाच्चरणरहितस्याऽपि कस्यचिद्देवदत्तादेर्गमनसम्भवः स्यात्, स चाखिलप्रमाणविरुद्ध इति चरणविशिष्ट एव पुंसि गतिरङ्गीकार्या। एवं नेत्रादावपि। तथा च रूपविशिष्ट एव प्रतिबिम्बते, न तु रूपं पृथक्तयेति न रूपशून्यस्य प्रतिबिम्ब

इत्यविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इति नादर्थव्यं सुधीभिः। ननु जपाकुसुमारुणगुणो द्रव्यं विहायैव स्फटिके प्रतिस्फुरति। अन्यथा दर्पणादौ मुखान्तरप्रतीतिवत् स्फटिके जपाकुसुमान्तरप्रतीतिः स्यात्। सा तु नास्ति। किन्तु केवलमरुणमैव प्रतीयते। तत्र च नीरूपत्वमेव। गुणे गुणानङ्गीकारात्। अतो नीरूपस्याप्यरुणस्य प्रतिबिम्बदर्शान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्ब उपपन्न इति प्राप्तेःसमाधिरुच्यते। रूपमात्रस्यापि प्रतिबिम्बे रूपवतो जपाकुसुमादेः कारणत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धम्। रूपवज्जपाकुसुमादि विना रूपप्रतिबिम्बाभावात्। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। न हि रूपवन्तं विना रूपमात्रप्रतिबिम्बो लभ्यते कुत्रापि। तथाच प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्ने रूपद्रस्तुनः कारणत्वाद्ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो नोपपद्यते। अत एवाचार्यवर्यैर्निबन्ध उक्तं “न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचने”ति। अत एव न वायोः प्रतिबिम्बः। एवं सति रूपवान् घटादिदर्पणादौ धर्मिरूपेण प्रतिबिम्बते। रूपवान् जपाकुसुमादिः स्फटिके धर्मरूपेणारुणगुणेन प्रतिस्फुरति। एवमुभयथा रूपवत एव प्रतिबिम्बसम्भवान्नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो न युक्तिसह इति सुधियो विदन्तु। अत एव प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्ने रूपवतः कारणतामवगत्य विद्वन्मण्डन उक्तम्-“रूपवत एव प्रतिबिम्बनियमादि”ति। उपाधिनाश इति। भगवज्जीवयोरन्तराश्रयभूताऽविद्या तस्याः कार्यस्य नाशे सति। “अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूवे”ति श्रुतेर्ज्ञानं प्रत्यविद्यानाशस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतयाऽवश्यमपेक्षणात्। विज्ञान इति। ब्रह्मणो विशेषतः सर्वात्मकत्वेन सर्वातिरिक्तरूपत्वेन च ज्ञाने सति। ब्रह्मात्मत्वावबोधन इति। ब्रह्मज्ञाननन्तरं जडजीवयोस्तदात्मकतया स्वस्यापि ब्रह्मात्मत्वेनावबोधे सति वक्ष्यमाणं फलं भवति। सिद्धान्ते हि ब्रह्मज्ञानं पुमर्थाय। “यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती”ति श्रुतेः। न त्वेकदेशभूतं पराभिमतं जीवमात्रे ब्रह्मत्वेन ज्ञानम्। एवं सत्यविद्यानाशे ब्रह्मस्वरूपज्ञानं तस्मिन् सति सर्वस्यापि पदार्थजातस्य बोधः, तेन स्वस्यापि सर्वमध्यपातितया निर्विकाराक्षरत्वेनापरोक्षस्फूर्तिः, ततो “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”ति श्रुतेरक्षरात्मकतायां सिद्धायां “तद्धाम परमं मम” “विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मन” इत्यादिवाक्यैरक्षरस्य भगवदधिष्ठानत्वात्तत्र स्थितमक्षरातीतं पुरुषोत्तमं कृष्णं ज्ञानी भक्तः पश्यति। तदाहुः तथा कृष्णं परं ब्रह्मेत्यादि। तत्र दृष्टान्तः गङ्गातीरस्थित इति। यथा प्रवाहसन्निधौ वर्तमानस्तन्मध्यवर्तिनीं मूर्तिमतीं गङ्गां श्रद्धाधिक्ये पश्यति तथा ज्ञानी भक्तोऽपि भगवदधिष्ठानत्वेन निकटस्थायिन्यक्षरात्मके स्वस्वरूपे भक्त्या कृष्णं पश्यतीति भावः। अत एव भगवता “चतुर्विधा भजन्ते मामि”ति सन्दर्भे ज्ञानी भक्तः प्रशंसितः। निबन्धेऽपि “ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नस्त्यधिकः पर” इत्युक्तम्।

ननु भक्त्या केवल्यैव सर्वपुरुषार्थसिद्धौ किमर्थं ज्ञानाग्रह इत्याशङ्क्य प्रेमवतस्तदनुपेक्षत्वेप्यनुत्पन्नस्नेहस्य भजनाङ्गत्वेनास्त्येव ज्ञानापेक्षेति तद्विहितस्य दोषमाहुः। संसारीति. अनिवृत्ताहन्ताममताकोऽनुत्पन्नबोध इति यावत्। स तु कृष्णं भजन् दिदृक्षाया आधिक्यादविद्ययाऽन्तरायभू

तया दर्शनाभावादुदुःखभागभवति. अत्र दृष्टान्तः दूरस्थ इति. यथा गङ्गाभक्तः स्नानपानाद्यर्थं तज्जलमभिलषन्नादिशब्देनाधिदैविकीं दिदृक्षन् दर्शनाभावात्प्रवाहरूपगङ्गाविप्रकर्षेणाधिदैविकीविप्रकर्षादुभयमलभमानो दुःखी भवति तद्वदित्यर्थः। सिद्धमुपदिशन्ति तस्मादिति. श्रीकृष्णमार्गस्थ इति. भक्तिमार्गस्थ इत्यर्थः। सर्वलोकतः संसारतः विमुक्तो भूत्वा शुद्धपुष्टिमार्गीयत्रजसुन्दरीवृन्दविहारिणं कृष्णमेव निरवध्यानन्दं विशेषेण चिन्तयेत्, मानसीसिद्धयर्थं लीलाविशिष्टभावनं कुर्यादिति भावः। अयमेवार्थः श्रीमत्प्रभुचरणैष्टीकायां विवृतः “कृष्णपदा”दित्यारभ्य, “आत्मपदं भगवत्पर”मित्यन्तेन. ननु ज्ञानरहितो भक्तो भगवद्दर्शनावरोधकसंसारस्य विद्यमानत्वादुदुःखी भवतीत्युक्तम्। तथा सति केवलज्ञानवत् तादृग्भक्तेरप्यप्रयोजकत्वमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमनूद्य केवलभजनेनापि निर्वाहमाहुः लोकार्थीति. लोकार्थी पशुपुत्रादिविषयकाङ्क्षान्। अनुत्पन्नज्ञानः संसारीति यावत्। भजनं कुर्वन् पूर्वोक्तप्रकारेण दिदृक्षाधिक्याद्दर्शनाभावात्क्लिष्टो भवति. तादृगपि आग्रहं कृत्वा भजनं चेन्न त्यजति, तदा भगवत्कृपया लोकः संसारोऽहन्ताममतात्मको भगवत्साक्षात्कारप्रतिबन्धकर्ता नश्यतीत्यर्थः। अत्र प्रपञ्चवाचिना लोकशब्देन तदन्तःस्थितः संसारो लक्ष्यते. नाशस्योक्तत्वादर्थस्वारस्याच्च लक्ष्यार्थ एव ग्राह्यः। एवं केवलया भक्त्या भगवद्भजनं निर्वहतीत्युक्तम्। तत्कथमित्याकाङ्क्षायां प्रमेयबलेन तद्भवतीति वदन्ति अनुग्रह इति. पुष्टिमार्गस्यानुग्रहैकनियम्यत्वात्प्रमाणविरुद्धमपि प्रेमयबलेन भवेत्। “नेमं विरचो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रसा. प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदादि”त्यादिवाक्येभ्य इति भावः। पुष्टिमार्ग इति. पुष्टिजन्ये भक्तिमार्ग इत्यर्थः। पुष्टिश्च “पोषणं तदनुग्रह” इति वाक्यादनुग्रहरूपो भगवद्गर्भः। स च लौकिकालौकिकोत्तमफलसाधकः। विशेषानुग्रहस्तु विरलजनविषयो भगवद्रूपात्मकफलसाधकः। तज्जन्यत्वं पुष्टिभक्तौ। अत्र पुष्टिशब्देन पुष्टिविशेषो ग्राह्यः, न तु साधारणानुग्रहः। तस्य लौकिकफलं प्रति कारणत्वात्। अत एव पुष्टिस्कन्धे साधारणेनैव कृष्णानुग्रहेणन्द्रादीनां दैत्यानां च तादृग्भक्तिरहितानामपि स्वाभिलषितलौकिकफलसिद्धिः। तथोक्तं निबन्धे “एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता. सर्वबाधकरूपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यत” इति. इन्द्रे महापुष्टिरित्यत्रानुग्रहे

महत्त्वं तु बलवत्प्रतिबन्धनिवृत्त्या मनोरथपूरकत्वं, न तु भक्तितत्सम्बन्धिसाधकत्वम्। लौकिकफलस्यैव दृश्यमानत्वात्। अतःसाधारणानुग्रहो लौकिकफलसाधकः। विशेषानुग्रहस्तादृग्भक्तिहेतुरिति निष्कर्षः। सा च नवमस्कन्धसूर्यसोमवंशीयवृत्तान्तकथनेन प्रपञ्चिता, मर्यादापुष्टिभेदेनेशानुकाशशब्देन व्यवहियते. ईशस्य अनुगामिनां भक्तानां कथा भक्तिरित्यर्थः। पुष्टिजन्या भक्तिः पुष्टिभक्तिः। अत एवोक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः “तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुम” इति भक्तिहेतुनिर्णये. एवं सति भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिता भक्तिः पुष्टिभक्तिरिति पुष्टिभक्तेर्लक्षणं ज्ञेयम्। न च निष्काममर्यादाभक्तावतिव्याप्तिः। अत्र मोक्षात्मकफलस्याकाङ्क्षितत्वात्। न च मोक्षः स्वरूपात्मक एवेति वाच्यम्। “न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरह्य काङ्क्ष” इति वृत्रवाक्ये स्वरूपातिरेककथनात्। अत एव पुष्टिमार्गीया नैनं कामयन्ते. एतच्च “अक्षण्वतामि”ति श्लोकविवृतौ, “वीक्ष्यालकावृतमुखमि” त्यस्य सुबोधिण्यां स्पष्टम्। अत एव मोक्षकामनापि काम्यमध्ये विमृष्टा. तथोक्तं निबन्धे “तप्तमुद्राधारणं काम्यम्। हरिसालोक्यकाम्ययेति वाक्यादि”ति. अतः स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिताः पुष्टिभक्ता एवेति सुधीर्भिर्विभावनीयम्॥१२॥

यदुक्तं श्रीमदाचार्यैर्विवृतं विट्ठलेश्वरैः।

कृतं तदनुसार्यैतद्बालकृष्णाङ्घ्रिसेविना॥१॥

यदत्र बुद्धिदोषेण चेष्टितं बालचापलम्।

क्षम्यतां श्रीमदाचार्यचरणैः कृपया मयि॥२॥

श्रुतिसिद्धरसात्मत्वकृष्णप्रेमप्रकाशकाः।

दासे मयि प्रसीदन्तु प्रभवो विट्ठलेश्वराः॥३॥

कालिन्दीपुलिने शरच्छशिकरैः शुभ्रीकृते मल्लिकाकुन्दामोदमन्मदालिनिनदे घोषाङ्गनाभूषिते. रासे राधिकया समं विहरतो मोदैर्मुहुर्नृत्यतः श्रीगोवर्धनधारिणो भगवतः सेवेय पादद्वयम्॥४॥

यश्चिन्त्यो ब्रह्मरुद्राद्यैर्बल्लवीजनचिन्तकः।

अस्मत्कुलपतिः श्रीमद्बालकृष्णः प्रसीदतु॥५॥

इतिश्रीमद्रोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवर

श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेनलालूभट्टोपनामविदितबालकृष्णेन
विरचिता

सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना सम्पूर्णा।

